सिद्धयोग

संस्थापक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

वर्ष-40 : अंक-4
जुलाई 2007

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

अमृत-कण

आ यद्वामीय चक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।।

(ऋग्वेद)

हे परस्पर स्नेहभाव और विरोध रहित स्त्री-पुरुषों! दीर्घ दृष्टि से युक्त बनो! हम विद्वान लोग, आप और अन्य सब लोग मिलकर स्वराज्य की रक्षा के लिए सब प्रकार से प्रयत्नशील रहें।

◆ ◆ ◆

काव्यशास्त्रविनोदेन कालोगच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।

(हितोपदेश)

बुद्धिमानों का समय काव्य, शास्त्र, साहित्य का अध्ययन कर मनोरंजन में व्यतीत होता है, परन्तु मूर्ख यानि बुद्धिहीन लोगों का समय बुरी आदतों में, सोने में और कलह करने में व्यतीत होता है।

◆ ◆ ◆

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हि नस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता)

जो व्यक्ति परमात्मा को सर्वत्र और प्रत्येक जीव में समान रूप से मौजूद देखता है, वह अपने मन के द्वारा अपने आपको भ्रष्ट नहीं करता। इस प्रकार वह दिव्य गन्तव्य को प्राप्त कर लेता है।

◆ ◆ ◆

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च।।

(चाणक्य नीति)

घर के बाहर निकले हुए की सच्ची मित्र विद्या होती है, घर के अन्दर शीलयुक्त पत्नी मित्र होती है, रोगी के लिए औषधि मित्र होती है और मरने वाले का मित्र उसका धर्म (धर्माचरण) होता है। इसलिए धर्म का पालन अधिक से अधिक करना चाहिये।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

वर्ष :40
अंक: 4

जुलाई
2007

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुलर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

गुरुदेव नमामि !

न जानानि जापं न जानामिध्यानं,
पशुपतिरूपं गुरुदेव नमामि।
भूतेश प्रणम्यं अनन्तस्वरूपं,
भक्तस्यत्राणं गुरुदेव नमामि।।

अर्थात्

मैं जाप और ध्यान कुछ भी नहीं जानता। सदाशिव स्वरूप हे गुरुदेव ! मैं आपको बार-बार प्रणाम करता हूँ। हे अनन्तस्वरूप गुरुदेव ! जिनको स्वयं भूतनाथ भगवान सदाशिव नमन करते हैं, भक्तों की सब प्रकार से रक्षा करने वाले आपको मेरा बार-बार नमन है।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सथाई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG
HINDI MONTHLY

संस्थापक :
योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक :
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डली के अध्यक्ष
एवं गुरु भाई–बहिन

इस अंक में ...

1. विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज 3
2. सम्पादकीय 9
3. अष्टांग योग – डॉ. ऋषिराम शर्मा 11
4. भाव प्रसून – श्रीमती सरिता भारद्वाज 15
5. प्रभु चरणों समर्पित – श्री राजेश कुमार सिंह 15
6. सिद्धयोग – श्री पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामी 16
7. अदृश्य बाँसुरी वादक की रहस्यमयी धुन – श्री दृष्टिकेतु सिंह पुण्डीर 18
8. महाभारत में योग विद्या – डॉ. राजकुमारी त्रिखा 20
9. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो. – श्री म.त्रि. भट्ट 23
10. उपलब्धियाँ – श्री भूपेन्द्र अंकुश 30
11. गुरु की गरिमा 31
12. बिगड़ी बनाने वाले...– श्री जगदीशराय बंसल 32
13. योगसाधन रहस्य – स्वामी दयानंद जी 33
14. रोगों से मुक्ति का उपाय : विपश्यना – डॉ. प्रेमनारायण सोमानी 38

एक प्रति	: रु. 11.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 120.00
द्विवार्षिक	: रु. 210.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 850.00

● विशेष लेख

जीवसत्ता से ब्रह्मत्व की ओर

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मैंने अपने पिछले व्याख्यान में तुम्हें धारणा, ध्यान और समाधि के रूपक को विस्तार से समझाने का प्रयत्न किया था और यह भी बताया था कि जब यह एक विषयक हो जाते हैं तो उसका नाम संयम हो जाता है। यह संयम योग की उच्चतर भूमिकाओं का कारण हुआ करता है। यह सब हमें क्यों करना पड़ता है? देखो! यह हमें इसलिये करना पड़ता है क्योंकि हम इस समय जीव सत्ता में है। जीव और ईश्वर में क्या भेद होता है? इस बात को भी थोड़ा समझ लो। भगवान् पतञ्जलि देव ने योग दर्शन में ईश्वर का लक्षण बताया। "क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरा मृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः" अर्थात् जो अविद्यादि क्लेशों से सदा ही रहित है जिन्हें कर्मफल तथा कर्मवासना कभी छूते भी नहीं ऐसा पुरुष विशेष ईश्वर है। श्री मद् भगवद् गीता में भी भगवान ने इसी पुरुष विशेष का वर्णन करते हुये कहा है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।

भगवान् ने स्वीकार किया है कि संसार में दो प्रकार के पुरुष हैं। "क्षर: सर्वाणि भूतानि" पञ्च महाभूत आदि क्षर है ये घटते बढ़ते रहते हैं। जैसे हमारे शरीरों में तत्त्व घटते-बढ़ते रहते हैं। बीमार हो जाने पर हम चिकित्सा से इन्हें सम रखने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार से पञ्च भूतों से निर्मित वस्तुओं में अधिक परिवर्तन दिखाई देता है। अतः ये क्षर हैं। विकार रहित जीवात्मा कूटस्थ रहता है उसे अक्षर कहते हैं। इसी जीवात्मा के लिये योगशास्त्र में कहा गया है "चितिशक्तिरपरिणामिनी, अप्रतिसंक्रमा दर्शित विषया शुद्धा चानन्ता च" चिति शक्ति जीवात्मा अपरिणामिनी है इसमें कोई परिवर्तन या परिणाम नहीं होता। अप्रतिसंक्रमा यह संक्रमण नहीं करता अर्थात् प्रभाव रहित है, शुद्ध तथा अनन्त है। किन्तु दर्शित विषय है इसे विषय दिखा दिये गये हैं। इसलिये यह जीवात्मा बुद्धि के द्वारा विषय दिखा दिये जाने के कारण बुद्धि बोधात्मा बन गया। अर्थात् हमारे अन्दर जो सुख दु:खादि के भाव है वे बुद्धि के अन्दर हैं आत्मा में नहीं है किन्तु आत्मा में भासित होते हैं। जीवात्मा के लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है "इच्छाद्वेषसुख दु:ख प्रयत्नाज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्" अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख प्रयत्न और अज्ञान जीवात्मा में रहा करते हैं। जीवात्मा में इच्छायें होती है उनकी पूर्ति के लिये वह प्रयत्न करता है। जो वस्तुयें उसे अच्छी नहीं लगती उनके प्रति मन में द्वेष रहता है। राग और द्वेष मन में रहा करते हैं, इससे वह

सुखी दुःखी होता है। राग होने पर सुख अनुभव करता है और जब द्वेष हो जाये तो दुःखी हो जाता है। कामनाओं की प्राप्ति में सुखानुभव करता है और प्राप्त न होने पर दुःखी रहता है। जीवात्मा के अन्दर एक और बात रहती है वह है अज्ञान। हम लोगों के अन्दर अज्ञान रहा करता है। एक बच्चे को उसके माता-पिता पढ़ाना आरम्भ करते हैं। पढ़ते-पढ़ते बी.ए., एम.ए., आचार्य आदि की उपाधि प्राप्त करके वह विद्वान तो हो जाता है किन्तु उसका यह ज्ञान परिमित ज्ञान है। हमारे पास हमारे चर्चा में कोई कमिश्नर आता है कोई जिलाधिकारी आता है कोई जज, प्रोफेसर, वकील आदि-आदि ऊँचे अधिकारी आते हैं। किन्तु इतना होने पर भी वे लोग अज्ञान में ही होते हैं। अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो पाती। वे यह नहीं जान पाते कि अब इस शरीर पर कौन सा कर्म भोग आने वाला है किस कर्म संस्कार का निपटारा हो चुका है। अर्थात् कर्म रहस्य एवं काल रहस्य को विद्वान होने पर भी जान नहीं पाते। यह अज्ञान के कारण है। इसलिये जब तक जीवात्मा की सत्ता रहती है तब तक उसके अन्दर से भ्रान्तियाँ एवं संशय बने ही रहते हैं। इसलिये जीव अज्ञानी कहा जाता है। ईश्वर के अन्दर अज्ञान नहीं होता। इस अज्ञान को ही योग शास्त्र क्लेश नाम से कहा जाता है। इस विषय को मैंने तुम्हें कई बार समझाया है किन्तु फिर भी ध्यान में रखो! ये क्लेश पाँच प्रकार के माने जाते हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश – ये पाँच क्लेश जीवात्मा में होते हैं। अविद्यादय: क्लेशा: इनमें पहला क्लेश है अविद्या। अविद्या का लक्षण है ''अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या'' अर्थात् अनित्य को नित्य समझ लेना। हमारे शरीर हमेशा रहने वाले नहीं हैं किन्तु मन के अन्दर यह ख्याल ही नहीं रहता कि हमारा शरीर एक दिन चला जायेगा। अशुचि अपवित्र को पवित्र समझना यह दूसरी अविद्या है हमारे शरीर में मल-मूत्र, कफ आदि भरा रहता है। यह सदा अपवित्र रहने वाला है, किन्तु हम इसको पवित्र समझ रहे हैं। यदि पवित्रता का भास न हो तो हम किसी से प्यार ही न करें ममता न उपजे। यह मेरा प्यारा है, यह मेरा मित्र है आदि-आदि। यह तभी होता है जब हम शरीरों को पवित्र समझते हैं। इसी से शरीरों में आसक्ति रहती है। दुःखों को सुख समझना यह तीसरी अविद्या है। देखो! **कष्टात् कष्टतरी क्षुधा** दुःख देने वाली क्षुधा दुःख है। यदि हमें भूख न लगे तो दवाईयाँ खाते हैं। डाक्टरों के पास जाकर कहते हैं डाक्टर साहब! हमें इतने दिनों से भूख नहीं लग रही है। जब हमें भूख लग जाती है तो फिर हम खूब भोजन करते हैं। तरह-तरह के भोजन करके इस भूख को मिटाने का प्रयत्न करते हैं। तो यह भी एक प्रकार से दुःख है किन्तु हम सुख समझते हैं। इसी प्रकार के संसार के समस्त भोग ''**भोगे रोगभयम्**'' के अनुसार सब रोग और दुःख देने वाले हैं। किन्तु हमें सुखमय प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार से अनात्म को आत्मा समझ बैठना। शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि आत्मा नहीं है। किन्तु हम जिस को प्यार करते हैं तो कहा करते हैं तू मेरी आत्मा है तू मेरा अंश है। तू मेरे आत्मा का टुकड़ा है। इस प्रकार से इस शरीर को आत्मा समझ कर इसमें पूरी आसक्ति रखा करते हैं। तो यह हुआ अनात्म वस्तु को आत्मा समझना। इस प्रकार से अनित्य वस्तु को नित्य समझना, अपवित्र समझना, दुःख को सुख समझना और जो आत्मा नहीं है उसे ही आत्मा समझ कर व्यवहार करना ये सब अविद्या कहलाता है। यह पहला क्लेश है। दूसरा क्लेश है अस्मिता नाम का। अस्मिता क्लेश क्या होता है? बुद्धि और आत्मा का मेल। ''**दृक्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेव अस्मिता**''।

दृगशक्ति आत्मा दर्शन शक्ति बुद्धि इनका जो मेल बना रहता है उसे अस्मिता कहते हैं। उस मेल के कारण आत्मा पर बुद्धि का प्रभाव होने के कारण सुख-दुःख का अनुभव होता है। ये दो बातें हो गई। तीसरा क्लेश है – राग। प्यारी वस्तु से हमे सुख मिलता है सुख का अनुभव होता है ''**सुखानुशयी रागः।**'' किन्तु क्योंकि राग भी थोड़ी देर के लिये रहता है फिर उसी से द्वेष हो जाता है या एक वस्तु या व्यक्ति से राग रहता है और दूसरे से द्वेष रहता है।

''**दुखानुशयी द्वेषः**'' द्वेष हो जाने पर मन में दुःख के भाव बने रहते है। इसलिये राग द्वेष दोनों जीव को सुखी–दुःखी बनाते रहते हैं। द्वेष हो जाने से वह वस्तु बुरी लगती है जिससे मन को कष्ट होता रहता है इसके बाद पांचवाँ क्लेश है–अभिनिवेश ''**स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः**'' बड़े–बड़े योगी महात्मा विद्वान तथा सर्व साधारण को जो भय सताता रहता है वह है मौत का भय। यह भय जीव के अन्दर रहता है। इस प्रकार से ये सारे क्लेश जीवात्मा में रहते है ईश्वर में नही होते अविद्या से ही कर्म बनता है ''**कुशलाकुशलानि कर्माणि**'' अच्छी बुरी हरकतों को कर्म कहते हैं। हम यह हाथ हिला रहे है तो यह कर्म नही कहलायेगा किन्तु जब क्रोध में किसी को हाथ उठायेंगे तो वह कर्म बन जायेगा इसलिये अच्छे बुरे भाव जिस हरकत में जुड़े हो वह कर्म कहलाता है। ''**तत्फलो विपाकः**'' कर्म का जो फल होता है उसे कर्म विपाक कहते हैं और ''**आशेरते फलपर्यन्तं कर्माण्यस्मिन् इति कर्माशयः**''। कर्म भोग पर्यन्त कर्म जहाँ पड़े रहते हैं उसे कर्माशय कहते है। ये सारे क्लेश कर्म आदि जीवों में रहते है ईश्वर में नहीं। ईश्वर तो ''सदैव मुक्त सदैव ईश्वरः'' सदा ही मुक्त है और सदा ही ईश्वर है। इसलिये करना क्या है यह एक विचारणीय बात है। हम सबके सब जीव सत्ता में है। जब तक जीव सत्ता में है तब तक जन्म लेना पड़ेगा और मरना पड़ेगा। जन्म मरण के दुःखों का वर्णन मैं करता रहता हूँ। इस प्रकार से जीव सत्ता में और ईश्वर सत्ता में क्लेशकर्मादि का अन्तर है। यह अन्तर योग विद्या से दूर कर दिया जाता है।

योग साधक के अभ्यास में अनेक विघ्न बाधायें आया करती हैं। ये विघ्न ही मनुष्य को उठने नहीं देती। यद्यपि विघ्न तो अनेकों है किन्तु योग दर्शन में नौ प्रकार के विघ्न बताये है। ''**व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शनालब्ध भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त विक्षेपास्तेऽन्तरायाः।**'' इनमें व्याधि पहला विघ्न है। एक आदमी योग साधना आरम्भ कर देता है मन में एकाग्रता आ जाती है किन्तु शरीर में कोई बीमारी आ जाये तो साधना में विघ्न आ जायेगा। ''**व्याधि धातुरसकरणवैषम्यम्।**'' शरीर में धातुओं में विषमता आने से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इससे साधना में विघ्न पड़ जाता है। दूसरा विघ्न है **स्त्यान**। स्त्यान का अर्थ है चित्त की अकर्मण्यता। मन का आलसी होना। **संशय** तीसरा विघ्न है। संशय यह होता है–गुरुदेव ने जो मन्त्र दिया है, पता नही ठीक दिया है या नहीं जिसको संशय होता है उसके लिये भगवान कहते हैं, ''**अज्ञश्च अश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति**'' जो मनुष्य अज्ञानी है और जिसमें श्रद्धा नहीं है वह संशय वाला बन जाता है। यह संशय व्यक्ति को कुछ करने नही देता। वहम हो जाना है संशय। मुझे अपने एक बच्चे की याद आई। उसने लाहौर में मुझ से दीक्षा ली थी। यह आज से पैसठ सत्तर वर्ष पहले की बात है। श्री प्रभु जी की कृपा से उसका ध्यान ऊँचा चलने लगा। दर्शन इत्यादि खूब

होने लगे। उसने किसी महात्मा से जो नामी धर्म प्रचारक था पूछा कि यह ध्यान कैसा है? ठीक है या नहीं। उस महात्मा ने कहा– यह तो भ्रान्ति दर्शन है। यह ध्यान ठीक नहीं है। उस साधक ने ध्यान करना छोड़ दिया। बस! जब ध्यान लगाना छोड़ दिया तो अनुभव बन्द हो गये– कोरा रह गया। उसका नाम सदानन्द है। आजकल शायद वृन्दावन में कहीं रहता है। एक बार वृन्दावन की गलियों में मुझे मिला था। कहता था मैंने ध्यान छोड़ दिया अब कोशिश करने पर भी मेरा ध्यान लगता ही नहीं है। क्या करूँ? यह क्यों ऐसा हुआ। यह हुआ संशय के कारण। एक गुरु भक्त के मन में तो संशय का नामोनिशान आना ही नहीं चाहिये।

इससे अगला विघ्न है **प्रमाद**। प्रमाद माउने असावधानी– मन का आलस्य। नियम बना लिया, सोच लिया इस नियमावली के अनुसार चलेंगे। किन्तु दो–तीन दिन अभ्यास के बाद फिर छोड़ दिया। चलो! कल से कर लेंगे। इसका नाम है लापरवाही। **आलस्यम्– कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वाद प्रवृत्तिः** शरीर के भारीपन के कारण चित्त भी भारी हो जाता है और साधना में प्रवृत्ति नहीं रहती। शरीर भारी होने से नाड़ियाँ फूल जाती हैं। कफ अधिक हो जाता है। इससे आलस्य रहा करता है। पड़े रहने की आदत पड़ जाने पर साधना में प्रवृत्ति नहीं बन पाती।

इसके बाद का विघ्न है **अविरति**। अविरति का अर्थ है–वैराग्य का न होना। ध्यान में बैठने की गुरु देव की आज्ञा है उसकी चेष्टा तो करे किन्तु मन में सोचता रहे उसके पास जाना था, उससे मिलना था, मेरा यह काम रह गया, मुझे दिन में यह–यह काम करने हैं आदि–आदि बातें सोचता रहे। इस से ध्यान में विघ्न होता रहे इसी का नाम अविरति है। इसके बाद आता है– **भ्रान्तिदर्शन**। ध्यान में गलत अनुभव हो जाये किन्तु उसे सच मान कर बर्ताव करना। इससे भी व्यक्ति भ्रम में पड़ जाता है। विचारानुगत समाधि में भी देवता भ्रमित कर दिया करते हैं। **अलब्ध भूमिकत्व** – बार–बार अभ्यास करने पर किसी स्थिति को प्राप्त न कर सकने को अलब्ध भूमिकत्व कहते हैं और अन्तिम विघ्न है **अनवस्थितत्व** अर्थात् साधक का चित्त किसी स्थिति को पाकर उसमें स्थिर न रहे, इसे ही अनवस्थितत्व नाम का विघ्न कहा जाता है। इस प्रकार से ये नौ विघ्न हैं जो साधक की साधना के मार्ग में आ जाया करते हैं। भगवान पतञ्जलि देव ने इन विघ्नों से बचने का एक उपाय बताया है "**तत्प्रतिषेधार्थम् एकतत्वाभ्यासः**" अर्थात् विघ्नों को दूर करने के लिए एक तत्व का अभ्यास करना चाहिये। एक तत्व का अभ्यास क्या? "**गुरोः परम्**" गुरुदेव से बढ़ कर कोई तत्व नहीं है। श्री प्रभु जी अपने मुखारविन्द से बतलाया करते थे कि यदि किसी प्रकार से बाधा आये तो गुरुदेव के चिन्तन करने से हट जाया करते हैं। या फिर ओंकार का –परमात्मा का ध्यान करें। हमने जीवन में इस बात को अनुभव करके देखा है कि जिन लोगों की साधना में कोई विघ्न बाधा पैदा हुई श्री प्रभु जी के चरणों का चिन्तन उनके मन में हुआ, तो बाधायें बिल्कुल–बिल्कुल जाती रहीं। किसी प्रकार का कोई विघ्न सामने नहीं रहा। तो इस प्रकार से मैंने जीव और ईश्वर का अन्तर बताया है जीव के अन्दर ही ये बाधायें आया करती हैं। ईश्वर के अन्दर विघ्न बाधा नहीं होती। इन विघ्नों को हटाने का उपाय है एक तत्वावलम्बन। जिस बात को मैं कह रहा हूँ वह है कि **गुरु देव के चरणों का अवलम्बन ही एक तत्वावलम्बन है।** यह एक तत्व गुरु देव ही है। उपनिषद का सिद्धान्त है–

"ईशावास्यमिदं सर्वम्" अर्थात् परमात्मा कण–कण में है। लोग कहा करते हैं। हरि हर जगह मौजूद है पर नजर आता नहीं। योग साधना के बिना उसे कोई पाता नहीं। ईश्वर सब जगह मौजूद है किन्तु देखने वाली आँखें मौजूद नहीं है। रूहानी जगत में जब तक प्रवेश नहीं होता परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। जब अन्दर की आँखें खुल जाती है तो सर्वत्र ईश्वर का दर्शन होने लगता है। "**ईशाद्या: सकला: देवा: दृश्यन्ते परमात्मनि**" उस परमात्म प्रकाश में सभी देवी देवता दिखाई दे जाया करते हैं। भगवान ने आन्तरिक शक्ति को प्राप्त करने के तीन साधन बताये है पहला है **श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्** अन्तर्दर्शन का मूल साधन श्रद्धा है। श्रद्धा युक्त मन से साधना करो। मेरु दण्ड को सीधा रखो। यदि बहुत देर तक नहीं सीधा बैठ पाते तो लकड़ी को सहारा बना लो। उसका सहारा लेकर कमर को सीधा करके बैठा करो। सात्विक आहार करो तथा थोड़ा आहार करो। दूसरा साधन है। "**तत्पर:**" जो साधना में लगा रहता है ऐसा नहीं दो–चार दिन ध्यान में बैठे। अजी कुछ हुआ नहीं क्या ध्यान करना। योग दर्शन बतलाता है– "**स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढभूमिर्भवति**"। लम्बे समय तक एक ही साधना में चलते रहो। "एकै साधे सब सधे सब साधे सब जाये"। एक ही रास्ते का लम्बे समय का आदर पूर्वक अभ्यास करना चाहिये। तीसरा साधन है **संयतेन्द्रिय** रहना। जो लोग इन्द्रियों पर संयम नहीं रखते तो शक्ति प्राप्त करने पर भी वे खाली हो जाते है। इसलिये आनन्दकन्द श्री प्रभु जी कहा करते थे कि भाँडे मिले पर औंदे मिले अर्थात् पात्र तो मिले पर फूटे हुये मिले। जो संयतेन्द्रिय नहीं है वे फूटे बर्तन की तरह खाली रहा करते है। फूटे बर्तन में पानी दूध कुछ भी डालोगे निकल जायेगा। इसलिये साधक को अपने मन को कभी भी खाली नहीं रहने देना चाहिये। "**खाली मन शैतान का वास**" मन खाली रहने पर दुर्व्यसन सूझेंगे। इसलिये करते रहो। ब्रह्मचर्य का पालन करो। देखो! गृहस्थ में रह कर भी तुम ब्रह्मचारी हो सकते हो। मनु जी महाराज ने कहा है–

ऋतुकालाभिगामी स्यात स्वदार निरत: सदा
ब्रह्मचारी एव भवति यत्र तत्र आश्रमे वसन्।

यदि कोई सन्तानोत्पत्ति के लिये गृहस्थ धर्म का पालन करता है और जो अपनी पत्नी में ही रत रहता है वह किसी भी आश्रम में रहे ब्रह्मचारी ही होता है। देखो! पति पत्नी में प्रेम होना आवश्यक है। "एक प्राण दो देह" होकर यदि रहते है तो वह सुखी रहते है, निरोग रहते है वहाँ सुख सम्पत्ति रहती है। घर चमक उठता है किन्तु यदि पति–पत्नी में प्रेम नहीं रहता, झगड़ा रहता है, तो उस घर में दु:ख का वास हो जाता है। इसलिये अपनी पत्नी में ही प्रेम रखना चाहिये। पत्नी को भी अपने पति से ही प्रेम करना चाहिये, उन्हीं का चिन्तन रखना चाहिये। इस प्रकार करने से स्त्रियाँ सती कहलाती है। कहावत भी है "**सती के पति को आँच नहीं आती।**" इस लिये ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये अपनी सभी ज्ञानेन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखो। संयतेन्द्रिय रहने का एक खास उपाय यह है कि तुम नैत्यिक व्यायाम करो। कम से कम एक घण्टा जीवन तत्व साधन अवश्य ही किया करो। इससे सारी बीमारियाँ दूर रहेंगी, मन की एकाग्रता बनेगी। भगवान पतञ्जलि जी ने योग की परिभाषा करते हुये कहा है– "**योगश्चित्तवृत्ति निरोध:**" अर्थात् चित्त वृत्तियों का पूर्ण रूप से निरोध योग कहलाता है। इसी से कैवल्य होता है जो योग का लक्ष्य है। हम अभी दुकेले भाव में है

अकेले में नहीं है। कैवल्य होने पर हम अपने शुद्ध स्वरूप में, अकेले में हो जाते है। "सत्व पुरुषयो: **शुद्धि साम्ये कैवलयम्** प्रकृति और पुरुष दोनों की समान रूप से शुद्धि हो जाये तो कैवल्य होता है। इस समय न प्रकृति अपने रूप में है और न पुरुष अपने रूप में। आत्मा से बुद्धि चेतन हो गई। बुद्धि ने अपना रूप आत्मा को दिखा दिया। हमारे अन्दर खाने-पीने, सोने-जागने, सुखी-दु:खी होने की जो वृत्तियाँ है वह आत्मा के धर्म नहीं है। ये बुद्धि के धर्म है। समाधि का अभ्यास करते-करते योगी निर्बीज समाधि को प्राप्त हो जाता है। उस अवस्था में बुद्धि का आत्मा से संयोग टूट जाता है। इसे ही कैवल्य कहते है। इसलिये मेरी इन बातों को सुनकर अपने को योग ध्यान परायण बनाओ। इधर-उधर के झमेले में मत पड़े रहो। राग द्वेष मत करो। यह बहुत बुरी बात है। तुमने योग की अमूल्य निधि पाई है। इसको संभाल कर रखो। इसी से सब का कल्याण होगा, भला होगा।

बार-बार आशीर्वाद।

■ ■ ■

'चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ चित्तवृत्तियों का बिल्कुल खत्म हो जाना, चित्तवृत्तियों का बिल्कुल रुक जाना नहीं है। जब तक मन का ही नाश नहीं होता, तब तक वृत्तियों का नाश नहीं होता। मन के नाश होने पर ही 'न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी' की उक्ति चरितार्थ हो सकती है।

योग का लक्ष्य चित्तवृत्ति का नितरां रोध है। यह केवल चित्त नाश से ही सम्भव है। योग दर्शन में किसी एक विशेष देवता की उपासना करने को नहीं कहा गया है। हिन्दु-मुसलमान, पारसी-ईसाई आदि किसी समुदाय विशेष के लिए उपासना का विधान नहीं है। यह सबके लिए, मनुष्य मात्र के लिए है। अत: सार्वभौम साधना है।'

– गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

गुरुपूर्णिमा का महत्व

प्रतिवर्ष आषाढ़ की पूर्णिमा को गुरुपूर्णिमा के रूप में मनाया जाता है। इसे व्यास पूर्णिमा भी कहते हैं। 'व्यास' शब्द गुरु का द्योतक है। विस्तृत या विशाल वस्तु को व्यास कहते हैं। गृ–निगरणे धातु से गुरु शब्द बनता है। शिष्य के अज्ञान को जो निगल लेते हैं, नष्ट कर देते हैं वे गुरु कहलाते हैं। गुरुदेव शिष्य के हृदय के अज्ञान ग्रन्थि का भेदन कर देते हैं जिससे शिष्य को परमतत्व का ज्ञान हो जाता है। गीता में आनन्दकन्द भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र ने घोषणा की है कि जो मेरे भक्त अनन्यचित्त होकर मेरी उपासना करते हैं उनके हृदय में ज्ञानदीप बनकर अज्ञान का हरण कर लेता हूँ। अज्ञान का हरण चाहे गोविन्द करें चाहे गुरुदेव करें अत्यावश्यक है। उनके अतिरिक्त किसी और में यह सामर्थ्य भी नहीं है। बिना अज्ञान ग्रन्थि के भेदन के जन्म–मरण का निवारण हो नहीं सकता है। महात्मा कबीर, गुरुनानक देव आदि सभी महापुरुषों ने गुरु की महिमा को गाया है। सहजोबाई जैसी गुरु भक्ता ने तो यहाँ तक कह दिया है कि **'मैं हरि को बिसार सकती हूँ गुरु को नहीं**। गुरु गीता में भगवान सदाशिव ने कहा है–'**नास्ति तत्वं गुरोः परम्**' गुरु से बढ़कर कोई तत्व नहीं है। गुरुदेव के मुख से प्राप्त हुई विद्या ही फलवती होती है। ईश्वर, शास्त्र एवं महापुरुषों की वाणी में विश्वास न करने वाले, गुरु पूजा न करने वाले व्यर्थ के वाद–विवाद में पड़े रहने वाले, हिंसा वृत्ति वाले तथा गुरुदेव को सन्तुष्ट न करने वाले लोगों को योग–मार्ग में सफलता नहीं मिलती है। त्रिकाल–अबाधित सत्ता का नाम ही गुरु है। गुरुगीता में कहा गया है–'**गुरु वक्त्र स्थिता विद्या लभ्यते च तत्प्रसादतः**' अर्थात् गुरु के मुख में स्थित ब्रह्म विद्या गुरुदेव की कृपा से ही मिला करती है। शिव पुराण के कैलास संहिता में भगवान् सदाशिव ने आदेश दिया है–**यो गुरुः सः शिवः प्रोक्तो यः शिवः सः गुरुः स्मृतः** अर्थात् जो गुरुदेव हैं वही शिव हैं जो शिव हैं वही गुरु कहे जाते हैं। इस प्रकार से शिव एवं गुरु के अभेद सम्बन्ध को बताया गया है। श्री मद्भागवत् महापुराण में भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी भक्त उद्धव को समझाते हुये कहते हैं – **आचार्यम् मां विजानीयात्**' अर्थात् गुरुदेव को मेरा ही स्वरूप समझो। गुरुदेव के प्रति कभी भी द्वेष या दोष बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। गुरुदेव में सभी देवों का वास रहता है इसलिये गुरुदेव की कभी भी अवमानना नहीं करनी चाहिये। '**सर्वदेव मयो गुरुः**' गुरु सर्वदेवमय हैं। गुरुदेव का चिन्तन शिष्य के लिये सदा ही परम कल्याणकारी है। इस विषय में गोस्वामी तुलसीदास जी रामचरितमानस में लिखते हैं–

श्री गुरु पद नख मणि गण ज्योति, सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥

श्री गुरुदेव के पद नख से प्रस्फुटित होने वाली ज्योति का ध्यान करने से शिष्य के हृदय में दिव्य दृष्टि आ जाती है अर्थात् शिष्य के तृतीय नेत्र खुल जाते हैं। गुरुदेव शिष्य के लिये कल्पतरु के समान हैं। उनके चरणों में बैठकर जिस भी वस्तु की इच्छा की जाये, वही इच्छा पूर्ण हो जाती है। कामधेनु की तरह अभीष्ट फल को देने वाले गुरुदेव होते हैं। कहते हैं पारस मणि लोहे को सोना

बना देती है, किन्तु पारस नहीं बनाती। जबकि गुरुदेव शिष्य को अपने समान बना देते हैं। 'गुरु करे आप समान'। यही गुरु की महिमा व महत्ता है। शिष्य का उद्धार गुरुदेव ही कर सकते हैं। और कोई नहीं। किसी में यह सामर्थ्य भी नहीं है। **'गुरौ: संतोषिते सर्व'** गुरुदेव के संतोष से इह लौकिक व पारलौकिक सभी वस्तुएँ प्राप्त हो जाती है। मोक्षकामी साधक को **'गुरु लोपो न कर्तव्य: स्वच्छन्दो यदि भावयेत्'** के नियम को सदा स्मरण रखना चाहिये। जब तक शरीर है तब तक गुरु का विस्मरण न करे। शिष्य को जीवन पर्यन्त गुरुदेव का स्मरण पूजन करते रहना चाहिये भले ही वह सिद्धत्व को प्राप्त कर ले। ईश्वर या गुरु जिस साधक को वरण कर लेते हैं वही मुक्ति भाजन हो सकता है, अन्य कोई नहीं। श्रुति वचन है–**यमेवेष वृणुते तेनेव लभ्य:**' जिसका वरण ईश्वर या गुरु करते है उसी से आत्मतत्व की प्राप्ति होती है। उसे ही आत्मा अपने स्वरूप को प्रदर्शित कर देता है वही साधक कृतकृत्य हो जाया करता है। योगिराज सन्त ज्ञानेश्वर जी महाराज ने अपने गुरुदेव के विषय में बहुत ही ऊँचे भाव निम्न शब्दों में व्यक्त किये हैं –

"जिनका स्मरण करने से ही शिष्य में सारी विद्याये आ जाती है। उन श्री गुरुदेव की मैं वन्दना करता हूँ। जिनका स्मरण करने से ही काव्य शक्ति आ जाती है। सारी साधनायें सफलता की शिखर तक पहुँच जाती हैं। सब प्रकार की वक्तृत्व शक्ति जिह्वा के अग्र भाग पर आ उपस्थित होती है। जिनके स्मरण मात्र से काव्य की मधुरता के आगे अमृत भी फीका पड़ जाता है,– रहस्यमय ज्ञान के परदे खुल जाते हैं। सम्पूर्ण आत्मबोध जिनके संकेत मात्र से प्राप्त हो जाता है। उन अपने श्रद्धेय गुरुदेव की मैं सादर वन्दना करता हूँ। जगत में ऐसा कोई उपमान नहीं मिल पाया जिसे मैं अपने गुरुदेव की उपमा में रख सकूँ। सचमुच वे अनुपम है। समस्त संसार का मन्थन करने वाला जो काम विकार है उस काम विकार को नष्ट करने वाले कामारि शिव मेरे गुरुदेव ही है। जिस पर भी गुरुदेव की कृपा दृष्टि पड़ जाती है, जिसका भी उनका कोमल कर स्पर्श कर लेता है, उसका तत्काल कल्याण हो जाता है। जिनका चारु चरित्र आकाश से भी अधिक स्वच्छ व निर्लेप है, सागर से भी गंभीर और मर्यादाशील है, कैसे कहाँ तक मैं उनके बहुसंख्यक गुणों का वर्णन करूँ। बस, मैं तो उन्हें बार–बार प्रणाम करता हूँ।"

योग दर्शन में भगवान् पतञ्जलि जी महाराज ने ईश्वर को 'गुरु' नाम से सम्बोधित किया है – **स: पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्**' वह ईश्वर काल से अविच्छिन्न होने के कारण ब्रह्मादिको का भी गुरु है। इस प्रकार से सृष्टि के प्रारम्भ से ही ईश्वर प्रदत्त ज्ञान राशि का वितरण गुरु परम्परा से होता चला आ रहा है। इस प्रकार से आत्मज्ञान देने वाले सद्‌गुरु क्षण–क्षण स्मरणीय होते हैं। हमारे भारत देश में हिन्दू मत एवं सम्प्रदाय के सभी लोग गुरु पूर्णिमा का यह उत्सव बड़े धूमधाम से मनाते हैं।

गुरु पूर्णिमा के इस पावन पर्व पर गुरुदेव भगवान् के परम पावन चरण युगलों में हमारा बार–बार प्रणाम है। वे परम कल्याणकारी सद्‌गुरु सभी शिष्यों के हृदयस्थ, अज्ञान का नाश करें तथा सभी के मन में ज्ञान विज्ञान का विकास करें।

■ ■ ■

अष्टांग योग

डॉ. ऋषिराम शर्मा, लखनऊ

अब हम अशुद्धि के नाश के लिए पाँच नियमों का वर्णन करेंगे।

"शौचसन्तोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः"

अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान यह पाँच नियम हैं। यमों की भांति नियमों का भी अशुद्धि के नाश में महत्वपूर्ण योगदान होता है।

शौच का अर्थ स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर का शुद्धिकरण होता है। किसी भी धर्म या दर्शन की साधना के लिए शरीर का स्वस्थ तथा साधना के अनुकूल होना आवश्यक है, क्योंकि **"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"** अर्थात् निश्चय ही धर्म की साधना का आधार शरीर ही है। स्थूल शरीर में अशुद्धि की वृद्धि से व्याधि, अंगकम्पन, आलस्य, प्रमाद आदि साधना के अन्तराय तथा विघ्न उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में अशुद्धि से वैर-भाव, कामनायें, चिन्तायें, काम-क्रोध, लोभ तथा भ्रान्तिजन्य अज्ञान की उत्पत्ति होती है। यही अज्ञान है जिसके कारण जीवात्मा परमात्मा से भिन्न दिखाई देता है। भगवान श्री कृष्ण यही संकेत देते हैं कि

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेन आवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

अर्थात् जीवात्मा न तो किसी पाप को ग्रहण करता है और न पुण्य को। बुद्धिबोधात्मक जीव अज्ञानवश ही पापी या पुण्यात्मा के कर्तापन से दुःखी होता है। अतः यह अज्ञान ही अशुद्धि है। दूसरा नियम "सन्तोष" है। सन्तोष का अर्थ है कि जो कुछ भी सुख-सुविधा प्राप्त है, उसी से सन्तुष्ट रहना और अधिक जुटाने के लिए मन तथा मस्तिष्क में संकल्पों का न उत्पन्न होना। जीवन में सुख-सुविधा अथवा दुःख-विपदा क्रमशः पुण्य कर्मों तथा पापकर्मों का फलमात्र है। अतः जैसा भी प्रारब्ध है, वैसे स्वतः उपस्थित होता है, उसी में पूर्ण सन्तुष्ट रहना ही सन्तोष है। चंचल मन में रजोगुण का प्रभुत्व रहता है जिस कारण मन अशान्त रहता है, मन में कामनाओं की चित्तवृत्तियाँ तथा उनकी पूर्ति के संकल्पों के बादल घिरे रहते हैं। अतः योग के अनुकूल समतावस्था नहीं आती। इसी समतावस्था को लाने के लिए सन्तोष की आवश्यकता होती है। भगवान श्री कृष्ण भी सन्तोष को कर्मबन्धन से मुक्ति का साधन मानते हैं कि -

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

अर्थात् जो जीवात्मा परमात्मा की इच्छा से प्राप्त सुख-सुविधा से सन्तुष्ट है, जिसके मन में सुख-दुःख, मान-अपमान, सफलता-असफलता, वैर-प्रीति तथा काम-क्रोधादि के द्वन्द नहीं उठते हैं और जो ईर्ष्या-भाव से मुक्त है वह कर्म करते हुए भी कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

तीसरा नियम तप है। जिस तरह खनिज में गुप्त सोना को तपाने से उसकी सम्पूर्ण अशुद्धि जलकर नष्ट हो जाती है और केवल शुद्ध सोना शेष रहता है, उसी तरह तप से अन्तःकरण की अशुद्धि नष्ट होती जाती है और केवल सत्वगुण शेष रहता है जिसमें योगी को आत्मदर्शन होता है। किन्तु यह केवल सात्विक तप से ही संभव है जैसा कि जगदात्मा कृष्ण ने परिभाषित किया है कि –

श्रद्धया परया तप्तं तपः त्रिविधं नरैः।,

अफलकांमिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते।।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्ति आत्मनि अवस्थितम्।

यतन्तो अपि अकृतात्मानो नैनं पश्यन्ति अचेतसः।।

अर्थात श्रद्धापूर्वक किया गया तप तीन प्रकार सात्विक, राजसी तथा तामसी होता है उसमें फल की कामना को त्यागकर केवल आत्मशुद्धि के लिए किया गया तप सात्विक कहलाता है। अन्तःकरण की अशुद्धि का कारण रजोगुण तथा तमोगुण ही होते है अतः अन्य दोनों तप शुद्धिकरण में सहयोगी नहीं होते। अष्टांगयोग की साधना से जब योगी का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तभी वह अपने शुद्ध अन्तःकरण में निर्मल दर्पण की भांति अपने आत्मस्वरूप को देख पाता है अन्यथा चित्त की अशुद्धि के कारण यत्न करता हुआ भी आत्मसाक्षात्कार में सफल नहीं होता।

तप का यथार्थ अर्थ है 'द्वन्द्वसहनं तपः' अर्थात् मायिक द्वन्द्वों को सहन करना तप है। सहने से तात्पर्य है कि द्वन्द्व की स्थिति में शास्त्रोक्त धर्म का पालन करना तथा मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों पर संयम कर उनकी शास्त्रविरुद्ध गतिविधियों पर अंकुश लगाना। यह द्वन्द्व जैसे राग–द्वेष, काम–क्रोध, मान–अपमान, सर्दी–गर्मी, प्रिय–अप्रिय तथा हर्ष–अमर्ष आदि माया के गुणों के विकार हैं। इन पर संयम न होने पर योग–साधना सम्भव ही नहीं होगी। तप एक क्रियात्मक साधना है जो कि शरीर वाणी तथा मन के द्वारा की जाती है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में शारीर, वाङ्मय तथा मानसी तप का उपदेश इस प्रकार दिया है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तपः उच्यते।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं चयत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तपः उच्यते।।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।।

भावसंशुद्धिः इत्येतत् तपो मानसमुच्यते।।

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जैसे देवतागण, ब्राह्मण, गुरुदेव तथा ज्ञानी उनका पूजन करना, शुद्धि के लिए परिश्रम करना, छल–कपट से रहित व्यवहार तथा आचरण करना, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना तथा किसी भी जीव को पीड़ा न पहुँचाकर अहिंसाव्रत का पालन करना। यह तप शारीरिक तप है। अपने मुख से किसी के लिए अपशब्द न बोलना, पीड़ादायक, वाक्यों का प्रयोग न करना,

सदैव सत्य तथा प्रिय एवं हितकारी भाषण करना, वेदशास्त्रों तथा मोक्षदायक शास्त्रों का अध्ययन तथा मनन करना, मोक्षदायक मन्त्रों का जप करना, यह सब वाणी का तप कहलाता है। इसी प्रकार मन में प्रसन्नता का भाव बनाकर रखना, मृदुलस्वभाव एवं नम्रता धारण करना, मौनवृत का पालन करना, मन तथा इन्द्रियों पर संयम रखना तथा शुद्धभावों को अपनाना, यह सब मानसिक तप है। इन सभी तप-साधनों का उद्देश्य अन्तःकरण की शुद्धि तथा सतोगुण की वृद्धि करना होता है। शुद्ध सतोगुण शुद्ध जल के समान होता है जिसमें अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट देखा जा सकता है।

चतुर्थ नियम "**स्वाध्याय**" है। स्वाध्याय का अर्थ है अपना अध्ययन या स्वयं को जानना। आत्मस्वरूप को तर्क से अथवा इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान से नहीं समझा जा सकता, क्योंकि वह अचिन्त्य है। अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण आत्मज्ञान में उपयोगी नहीं है, केवल आगम प्रमाण से ही इसका शब्दज्ञान होता है यानि शास्त्रों के अध्ययन तथा मनन से। इसके लिए श्रद्धा-विश्वास तथा एकाग्रता की आवश्यकता होती है। स्वाध्याय की तीन महत्वपूर्ण भूमिकायें हैं श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन। श्रवण में शास्त्रों तथा महापुरुषों के उपदेशों का श्रवण करना तथा समझना होता है उसके बाद उन पर गहन विचार-मन्थन करना होता है। इसको मनन कहते हैं। मनन के उपरान्त उन विचारों को आत्मसात करके ध्यानप्रक्रिया को अपनाना होता है। इसे निदिध्यासन कहते हैं। इस प्रकार जब मन शान्त हो जाता है और चित्त में एकाग्रता परिणाम का उदय हो जाता है। इन्द्रियों का बाह्य विषयों से सम्पर्क टूट जाता है और तब विवेक तथा वैराग्य से चित्तवृत्तियों का निरोध होना आरम्भ हो जाता है और -

"विशोका वा ज्योतिष्मती"

स्वाध्यायात् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।

अर्थात् स्वाध्याय के नित्य-निरन्तर अभ्यास से अन्तर्ज्योति का प्रकाश चित्त में फैलने लगता है और आनन्द का अनुभव होता है। स्वाध्याय से योग में प्रवेश होता है और योग से स्वाध्याय को बल मिलता है। इस प्रकार स्वाध्याय तथा योग के अभ्यास द्वारा परमात्मा का सर्वव्यापक स्वरूप प्रकाशित होने लगता है।

पाँचवा नियम "**ईश्वर प्रणिधान**" है। यह नियम अपने में योग की सिद्धि का साधन है। परमात्मा स्वयं योगसिद्धि का स्वरूप है। अतः जब साधक अपने मन तथा बुद्धि के व्यापार को परमात्मा को समर्पण कर देता है तब सर्वशक्तिमान परमात्मा स्वयं मार्गदर्शन करने लगता है। भगवान कृष्ण ने स्वयं अपने मुखारविन्द से यह रहस्य बताया है कि -

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्परः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार सागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।

अर्थात् जो साधक मुझ सगुण परमात्मा को अपना परम लक्ष्य बना लेते है अपने धर्मानुसार सम्पन्न किये गये कर्मों का फल मेरे अर्पण कर देते है यानि जनहित में कार्य करते हुए अनन्य–भक्ति के द्वारा मेरी उपासना मे ध्यानमग्न रहते है। ऐसे भक्तो को मार्गदर्शन करने के लिए तथा भवसागर से पार उतारने के लिए मैं स्वयं नाव की भूमिका में प्रकट हो जाता हूँ। उनका मेरे स्वरूप में लीन हो जाता है। अतः मैं शीघ्र ही उनका सहायक बन जाता हूँ, क्योंकि जो भी मुझे जिस भाव से भजता है, मैं भी उसे उस भाव से भजता हूँ। यह मुझ परमात्मा का स्वभाव है। परमात्मा स्वयं इस सृष्टि रूपी माया का मायाधीश है, यानि नियन्ता है। अतः परमात्मा को समर्पण करने वाले साधक के मार्ग की विघ्न–बाधायें स्वतः हट जाती है। परमात्मा सभी प्राणियों के हृदय मे वास करते है, मन मे जो भी भाव बनते हैं उन सबका परमात्मा साक्षी होता है। इसीलिए तो श्रीकृष्ण के रूप मे परमात्मा ने स्वयं अपने मुख से स्वीकार किया है–

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं प्रश्नामि प्रयात्मनः।।
अनन्यश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्ययुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

अर्थात् जो भी जीवात्मा भक्तिभाव से पत्र, पुष्प, फल तथा जल मुझे अर्पण करता है, उसे मैं अवश्य ग्रहण करता हूँ। जो मेरे भक्त अनन्य भक्ति से नित्य ध्यानमग्न होकर मेरा स्मरण करते है, मेरी उपासना करते हैं, उनका कल्याण तथा रक्षा मैं स्वयं करता हूँ, क्योंकि उनके भाव मुझ परमात्मा से अज्ञात नहीं है। अतः ईश्वर की शरणागति से योग–संसिद्धि का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

(क्रमशः)

न ज्ञान विज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्।
न बिना गुरुसंबन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः।।
गुरु प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते।
विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत्।।

(महा॰) शांतिपर्व 326/22–23)

जैसे ज्ञान विज्ञान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार सद्गुरु से संबंध हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। गुरु इस संसार सागर से पार उतारने वाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान नौका के समान बताया गया है। मनुष्य उस ज्ञान को पाकर भवसागर से पार और कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे नौका और नाविक दोनों की ही अपेक्षा नहीं रहती।

भाव-प्रसून

श्रीमती सरिता भारद्वाज दिल्ली
एम.ए. (हिन्दी,संस्कृत) बी.एड. आचार्य (सांख्य, योग)

सिद्ध-योग का वृक्ष खड़ा है,
लम्बी-लम्बी शाखाएं।
ऊँचे-ऊँचे पत्ते ऐसे,
मानो ध्वजा पताकाएँ।
सर-सर करती हवा चले जब,
पत्ते सत्गुरु की जय कहते।
लम्बी शाखा एक दूसरे से,
जय कह और गले से मिलते।
नाना विहग बैठ इस तरु पर,
मधुर ध्वनि से कलरव करते।
मानो मानव की नासमझी,
पर वे हँसते मूरख कहते।

मधुर फलों से लदा हुआ है,
पर वे दीख नहीं पड़ते।
तप और भक्ति करे जब कोई,
गुरु-कृपा से लख सकते।
वृक्ष कलेवर थामे बैठे,
मेरे गुरुवर सबसे कहते।
आओ सब मिल करो साधना,
जन्म सफल करने को कहते।
ऐसा है यह सिद्ध कल्प-तरु,
जो माँगो सो पा जाओ।
कल्पवृक्ष के रखवाले के,
पाद-पद्म में शीस झुकाओ।

श्री प्रभुचरणों में समर्पित

सदाशिव प्रभुरामलाल, श्री चन्द्रमोहन घनश्याम,
गुरु पूनम पर अर्पित हो, मेरा कोटि-कोटि प्रणाम।
1. तेरी महिमा अजब निराली, पार नहीं कोई पाया है,
रात दिन के चक्कर में, कुछ लेकर कुछ गंवाया है,
कोई दर्द दे हंसता है, कुछ प्रभु के करते काम,
गुरु पूनम——
2. कोई फूलों पर भी सो न सके, कोई काटों पर भी हंसता है,
महंगी होती मौत कहीं तो, जीवन सस्ता होता है,
हम सुख देखें है सड़कों पर, महलों में कोहराम,
गुरु पूनम——
3. कितने राजा आये गये, न तख्त रहा न ताज रहा,
पल में दुनिया बदल रही, कल वाला न आज रहा,
सुबह को सूरज पर्वत पर, और सागर में शाम,
गुरु पूनम——
4. दोनों दृश्य तुम दिखा दिये, जीवन के इन राहों में,
कृपा करो हमें लेलो अब, भगवन अपनी बाहों में,
राजेश पाप करें धरती में, प्रभु होते बदनाम,
गुरु पूनम——

राजेश कुमार सिंह
बलिया उ. प्र.

सिद्धयोग

श्रीश्री शंकर पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामी

एक समय सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने देवाधिदेव महादेव से प्रश्न किया –

सर्वे जरया: सुखैर्दु:खैर्मायाजालेन वेष्टिता:।
तेषां मुक्ति: कथं देव कृपया वद शंकर।।
सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं वद।।

(योगशिखोपनिषद्)

'हे शंकर! सब जीव सुख–दु:खरूप मायाजाल से घिरे हुए हैं। हे देव! कृपया मुझसे यह कहिये कि इनकी मुक्ति किस प्रकार हो सकती है? ऐसा एक उपाय बतलाइये जिससे सब सिद्धियाँ प्राप्त हों, मायाजाल कट जाये और जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि का नाश हो जाये।'

इसके उत्तर में भगवान् महादेव ने विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्मा से कहा –

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्।।सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव।

(योगशिखोपनिषद् 1/3–4)

'हे पद्मसम्भव! कैवल्यरूप परम पद की प्राप्ति के अनेक उपाय कहे गये हैं, किन्तु उन समस्त उपायों से उसे प्राप्त करना सहज नहीं। एकमात्र सिद्धिमार्ग के द्वारा ही कैवल्य पद आसानी से प्राप्त होता है। अन्य प्रकार से नहीं प्राप्त होता।' कैवल्य प्राप्ति ही मानव जीवन का उद्देश्य है। कैवल्य मुक्ति होने पर ही दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। दु:ख नष्ट हो जाने पर पुन: उसकी उत्पत्ति न होने को ही दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति कहते हैं। कैवल्य या मोक्ष प्राप्त होने पर जीव को पुन: जन्म–मृत्यु–जरा–व्याधिजनित दु:ख नहीं भोगने पड़ते। इसे प्राप्त करने का सहज पथ सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग है।

यह सिद्धिमार्ग क्या है, यहाँ इस बात का विशदरूप से वर्णन करना आवश्यक है। जिस पथ से बिना कष्ट के योग प्राप्त होता है, उसी पथ को सिद्धिमार्ग कहते हैं। योगरूप सिद्धि प्राप्त करने का पथ सुषुम्ना नाड़ी है, जब इस नाड़ी से प्राणवायु प्रवाहित होकर ब्रह्मरन्ध्र में जाकर स्थित होती है तब साधक को जीव–ब्रह्मैक्य–ज्ञानरूप योग प्राप्त होता है। सर्वप्रथम गुरुद्वारा शक्ति का संचार होने पर कुण्डलिनी–शक्ति जागरित होती है, और उसके बाद क्रमोन्नति के द्वारा योगलाभ होता है। जिस तरह तुम्हें बरतन, लकड़ी, जल और अग्नि इत्यादि किसी चीज को परिश्रम करके जुटाना नहीं पड़ता, केवल दाता की कृपा से ही उसके घर में तैयार अन्न से ही तुम्हारी क्षुधा शान्त हो जाती है, उसी तरह तुम्हें परिश्रम करके सब योगों की आधारस्वरूपा मूलाधारस्थित कुण्डलिनी–शक्ति को जागरित करने के लिये योगशास्त्रोक्तआसन, मुद्रा और प्राणायामादि कुछ भी अस्वाभाविक ढंग से अनुष्ठान करने की जरूरत नहीं, केवल गुरुशक्ति के प्रभाव से ही

कुण्डलिनी–शक्ति के जागरित हो जाने से स्वाभाविक रूप में योग मार्ग प्राप्त हो जाता है। इसी को 'सहज कर्म' कहा गया है। स्वभाव से जो होता है, वही वास्तव में सहज है। स्वाभाविक और अस्वाभाविक भेद से योगपथ दो प्रकार का है। उनमें अस्वाभाविक उपाय अत्यन्त कष्टसाध्य तथा विघ्नसंकुल है। स्वाभाविक से विपरीत ही अस्वाभाविक है। जो स्वाभाविक है, अर्थात् जो स्वभावतः होता है, वही अनायाससाध्य और सुखद है; तथा उसमें किसी तरह की विपत्ति की भी सम्भावना नहीं। देखो, जब स्वभावतः हमें निद्रा, क्षुधा और मलमूत्रादि का वेग होता है तब सोजाने, भोजन कर लेने और मलमूत्रादि त्याग देने से शारीरिक स्वस्थता तथा मानसिक आनन्द का अनुभव होता है। किन्तु निद्रा की इच्छा न मालूम होने पर भी जबर्दस्ती सो रहने से सुषुप्ति के स्थान में स्वप्न आया करता है और उससे शारीरिक और मानसिक अस्वस्थता का अनुभव होता है। भूख नहीं है, फिर भी भोजन कर लिया, तो उससे अजीर्णतादि दोष के कारण शरीर में रोग होने की सम्भावना रहती है। भूख न रहने पर भोजन करने से वह उतना रूचिकर भी नहीं मालूम होता। मलका वेग नहीं हुआ, फिर भी काँखकर मल त्याग किया, इससे भविष्य में गुह्य रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है; किन्तु वेग होने के बाद मल त्याग करने पर शारीरिक और मानसिक आराम मालूम होता है। उसी तरह अन्तःकरण में स्वाभाविकरूप से आसन, मुद्रा और प्राणायामादि करने की इच्छा होने पर और उसके अनुसार क्रिया करने पर वह सहज और शान्तिप्रद हो जाती है। स्वभाव से ही जो हो जाता है, उसमें बाधा डालने पर बल्कि अनिष्ट की सम्भावना रहती है। जैसे, शोक में जिस समय रुलाई आती है, उस समय उसमें बाधा उपस्थित होने पर हृदय में भयानक चोट लगती है; किन्तु रो लेने पर शरीर और मन हल्का मालूम होता है। मल मूत्रादि का वेग होने पर उसे रोक लेने से दुःख होता है और रोग उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, किन्तु उसका त्याग करते ही आराम मिलता है। उसी तरह गुरुशक्ति के प्रभाव से स्वभावतः जो आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदि तथा नाना प्रकार से अंगसञ्चालन आदि करने की इच्छा होती है, उसमें उस समय बाधा डालने पर मानसिक अशान्ति मालूम होती है और शरीर को भी अच्छा नहीं मालूम होता।

जिस तरह वायु, पित्त और कफ इन तीनों के स्वभाव में विषमता होने पर वैद्य के पास जाना पड़ता है और वैद्य के बतलाये हुए औषध, पथ्य का व्यवहार करके स्वभाव की सहायता करने पर शरीर स्वभावतः ही नीरोग हो जाता है, उसी तरह सद्गुरु की कृपा से शक्तिसञ्चारके द्वारा सिद्धिमार्ग प्राप्त होने पर एकमात्र गुरुपदिष्ट मन्त्रजप या ध्यान के द्वारा ही स्वभावतः आसन, मुद्रा, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान इत्यादि सब योगाङ्ग अनायास साधित हो जाते हैं, इसके लिये विशेष परिश्रम करने या चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं होती, अथवा गुरु से इन सब आसन, मुद्रा और प्राणयाम आदि का स्वतन्त्ररूप से उपदेश लेने की भी जरूरत नहीं होती।

इसी पथ से क्रमशः अग्रसर होते–होते साधक शीघ्र ही योगसिद्धि प्राप्त करके कृतार्थ और धन्य हो जाता है। इस उपाय से स्वभावतः योगाङ्गादि साधन क्रम से जीव और ब्रह्म का ऐक्यज्ञान अथवा अखण्ड–चैतन्यानुभूति होती है और इसी को सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग कहते हैं। परन्तु यह शक्तिसम्पन्न सद्गुरु की कृपा प्राप्त होने पर ही सम्भव है।

अदृश्य बाँसुरी वादक की रहस्यमयी धुन

–दृष्टिकेतु सिंह पुण्डीर–

वह क्या चीज है जिसे हम जीवन भर खोजते रहते हैं? अद्वैत गुरु बालसेकर कहते है कि चाहे हम स्वीकार करें अथवा न करें किन्तु एक चीज है जिसे हम सबसे अधिक चाहते हैं और वह है सर्वत्र पारस्परिक शान्ति। अपने परिवार, मित्रों और सहकर्मियों, जिनके साथ हमें अपना समूचा जीवन व्यतीत करना होता है, उन सभी के साथ अपना सामंजस्य बिठाना।

हमारा अधिकांश असंतोष ''क्या है?'' के विषैले प्रश्न से निकलता है और ''क्या होना चाहिये?'' तक जारी रहता है। यह जीवन क्षण–प्रतिक्षण हमारे सामने ''क्या है?'' को प्रस्तुत करता रहता है। ''क्या होना चाहिये?'' – यह हमारे मन के शरारतीपन का खेल है, जो अतीत के अनेक वर्षों में घटित घटनाओं और समस्याओं के विश्लेषण पर आधारित है। और भविष्य में भ्रमात्मक परिवर्तन के साथ संगठित है। अपनी अज्ञानता के कारण हम भ्रमजाल में फंस जाते हैं, जो हमारी वैयक्तिक शान्ति में बाधा डाले है।

दूसरों से यह आशा करना कि वे ऐसा व्यवहार करें जिससे हमें शान्ति मिले स्वाभाविक है, किन्तु संभव नहीं। समस्यायें तो वास्तव में हमारा 'मन' ही उत्पन्न करता है। व्यावहारिक, भावात्मक, वित्तीय, सामाजिक, विस्तार वादियों के समूहों, राष्ट्रों आदि से हमारी बढ़ती हुई आशाओं–अपेक्षाओं में हमारा मन उलझा रहता है।

रामकृष्ण और रसल जैसे गुरुओं ने कहा है कि विकास के दृष्टि विषयक व रूप विषयक चक्र में परिवर्तन, विनाश और पुनर्जीवन कभी नहीं था अथवा एक ऐसा समय अवश्य रहा होगा जब विश्व या समाज में संबंध की दृष्टि से पूर्णरूपेण वियोग रहा होगा। जीवन निश्चित रूप से उन व्यक्तियों के सम्मिलन से बना है, जो भिन्न–भिन्न रूपों में अपनी विशिष्ट भूमिकायें निभाते हैं। कुछ नेता होते हैं, कुछ योद्धा और कुछ विघटनकारी कार्य करते है......और बहुत से अन्य दर्शक मात्र होते हैं, जो घटनाओं को होने देने वाले साक्षी होते हैं –कभी सफलता के साथ और कभी असफलता के साथ अपने अच्छे प्रयत्नों के बावजूद।

जीवन को यदि भरपूर जीना है और श्रेष्ठतम करना है तो प्रदत्त परिस्थिति में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति और सीमाओं में रहकर व्यवहार करना होगा। स्वयं पर कठोर और केवल आलोचना ठीक नहीं। जॉन लिनोन ने कहा है–''जीवन वही होता है, जो तुम्हारे साथ घटित होता है, जब तुम योजनाएं बनाने में व्यस्त होते हो।'' वास्तव में जीवन हमारी योजनाओं से बहुत असम्बद्ध होता है। जीवन में एक रहस्यमयी सुन्दरता है जो मन के द्वारा की गई गणनाओं को परास्त करती है। 'क्वाण्टम' भौतिकवादी स्टीफेन हॉकिंग कहता है–'' जीवन में हर घटना पहले से ही निर्धारित होती है। साँचा पहले से ही बना दिया जाता है। इसलिए किसी न किसी तरह से इसे जानने और समझने में कोई फायदा नहीं है। संक्षेप में कोई भविष्य वाणी नहीं कर सकता कि भविष्य क्या होगा?

कौन–सी चीज हमारे जीवन को आनन्द और आश्चर्य प्रदान करती है? कभी–कभी

परिणाम हमें बहुत खुशी देता है और दूसरे ही क्षण वह निराशा में बदल जाता है। अतः हमें जो पूरे ध्यान और चिंता से अपने क्रियाकलापों में व्यस्त है, यह बात ठीक–ठीक समझ लेनी चाहिये कि परिणामों पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। अलबर्ट आइन्सटीन ने कहा था कि हर चीज ताकतों द्वारा निर्धारित होती है, जिस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। यह जैसे कीड़ों के लिए निर्धारित है वैसे ही तारों, मानव, सब्जियों या ब्रह्माण्डीय धूल के लिए भी। हम सभी रहस्यमयी लय की धुन पर नाचते हैं, जो दूरस्थ अदृश्य बाँसुरी वादक द्वारा बजायी जाती है।

योजना बनाना अच्छा है, लेकिन भूलिये मत जब अच्छे समाचार अचानक हमारे पास आते है तो बड़ी खुशी और आनन्द लाते हैं। जीवन में विश्वास रखिये क्योंकि आने वाला कल दूसरा दिन है।

किसी ने कहा भी है–

तेरी सत्ता के बिना, हे प्रभु मंगल मूल।
पत्ता तक हिलता नहीं, खिले न कोई फूल।

ooo

गुरुतम गुरु

प्रायः सभी व्यक्तियों के गुरु पृथक्–पृथक् होते हैं, किन्तु श्रीभगवान् तो सभी के गुरु हैं। वे लोक–पितामह ब्रह्माजी के भी गुरु हैं–

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(योगसूत्र 1/26)

ब्रह्माजी ने सर्ग के आरम्भ में श्री विष्णु भगवान् से ही वेद–विद्या प्राप्त की थी–

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/18)

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये।

(श्रीमद्भगवत 1/1/1)

अतएव श्रीभगवान् को 'गुरुतम गुरु' मानना समीचीन है। श्री विष्णु सहस्त्रनाम स्तोत्र में यह 210 वाँ नाम है।

महाभारत में योग विद्या

योगमार्ग के विघ्न व विघ्न–विनाशक उपाय

डॉ. राजकुमारी त्रिखा
रीडर मैत्रेयी कॉलेज,
नई दिल्ली

प्रत्येक लक्ष्य तक पहुँचने के लिए, सहायक उपकरणों की आवश्यकता होती है। योगसाधक को योगसाधना प्रारम्भ करने से पूर्व कुछ विशेष सावधानियाँ बरतनी चाहिए। तभी साधना सुचारु रूप से चलती है व शीघ्र ही सफलता प्राप्त होती है। प्रस्तुत अध्याय में हम ऐसे ही कतिपय आवश्यक बिन्दुओं पर चर्चा करेंगे। योगसाधकों को अपनी साधना प्रारम्भ करने से पूर्व ही इन सावधानियों को बरतने का निर्देश दिया जाता है। इस सम्बन्ध में हम इन विषयों पर चर्चा करेंगे।

क– योगसाधना हेतु उचित स्थान का चयन

ख– योगसाधना हेतु उचित विष्टर (आसन)

ग– योगसाधना हेतु उचित काल–निर्णय

घ– योगसाधना हेतु उचित शारीरिक स्थिति (आसन)

ङ– योगसाधना विधि

(क) योग–साधना हेतु उचित स्थान का चयन

गुरूपदिष्ट साधना प्रणाली के अनुसार श्रद्धासहित साधना करने वाले योगसाधक को साधना करने से पूर्व सर्वप्रथम उचित स्थान का चयन करना चाहिए। चित्तवृत्तियों का निरोध कोलाहलपूर्ण एवं जनसंकुल स्थान पर नहीं किया जा सकता, क्योंकि साधक का ध्यान, साधना में विघ्नकारी कोलाहल अथवा उपस्थित व्यक्तियों की गतिविधियों की ओर आकर्षित होगा। अतः साधकों को स्पष्ट निर्देश दिया गया है, कि राजधानी में, दूर देश में, जंगल में साधना नहीं करनी चाहिए, अन्यथा सिद्धि की हानि होती है। इसका कारण यह है कि दूर देश में, किसी का विश्वास नहीं किया जा सकता, जंगल में शरीर रक्षा करना कठिन है, तथा राजधानी जनसंकुल एवं जगमग प्रकाशयुक्त होती है। अतः साधक का चित्त साधना में एकाग्र नहीं हो पाता, व अपने परिवेश में भ्रान्त रहता है।

अतः वेदव्यास शुकदेव मुनि को उपदेश देते हुए कहते हैं– एकान्त में ही योगसाधना करनी चाहिए। उसी प्रसंग में वे पुनः कहते हैं– पर्वत की सूनी गुफा, देवमन्दिर या एकान्तस्थित शून्य गृह को साधना हेतु निवासस्थान बना कर साधना प्रारम्भ करनी चाहिए।

साधनास्थली केवल एकान्तस्थित होना ही पर्याप्त नहीं है। उसे स्वच्छ व पवित्र रखना भी साधना में समुचित प्रगति हेतु परमावश्यक है। पवित्र स्थान पर चित्त सरलता से एकाग्र हो जाता है। अतः कहा गया है कि साधना हेतु ऐसे स्थान का चयन करो, जो सब ओर से घिरा हुआ और पवित्र हो। वहाँ कोमल कुशाओं का आसन बिछा कर साधना का शुभारम्भ करो।

भगवान् कृष्ण भी अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं– "शुद्ध भूमि में, जिसके ऊपर क्रमशः

कुशा, मृगछाला, और वस्त्र बिछे है, जो न बहुत ऊँचा है, और न बहुत नीचा; ऐसे आसन को स्थिरता पूर्वक स्थापित करो।

इस प्रकार महाभारत में योगाभ्यास हेतु स्थानचयन के विषय में स्थान की पवित्रता व उसकी एकान्तस्थिति महत्वपूर्ण व प्रमुख विशेषता है। आसन का ऊँचा नीचा न होना, उसके समतल होने का द्योतक है। आरामदेह आसन पर समतल भूमि में, अधिक सरलतापूर्वक चित्त की एकाग्रता सम्भव है, जबकि ऊँची नीची धरती पर आसन बिछा कर बैठने से शरीर को कष्ट होगा, जिससे चित्त की एकाग्रता में बाधा पड़ सकती है।

साधनास्थली एकान्तस्थित, व सब ओर से घिरी हुई होनी चाहिए, इस कथन का तात्पर्य यह है कि स्थान घिरा होने पर, शरीर को चोट लगने का भय नहीं रहता। हठयोग के ग्रन्थ घेरण्डसंहिता व हठयोग प्रदीपिका में शरीर रक्षा की दृष्टि से सावधानी बरतते हुए भोजन व जल की सुलभता वाले तथा शरीर को कष्ट देने वाले जन्तुओं से रहित स्थान को साधनास्थली चुनने का निर्देश किया गया है।

गृहस्थ योगाभ्यासी अपने गृहस्थधर्म का निर्वाह करते हुए ही, अपने घर के किसी एकान्त व पवित्र प्रकोष्ठ को अथवा किसी कमरे के एक कोने को साधना का स्थान चुन सकते है।

(ख) योग–साधना हेतु उचित विष्टर

योगसाधना हेतु उचित स्थान का निर्णय कर लेने के पश्चात्, उस स्थान को स्वच्छ करके, उस पर कुशा का आसन बिछाना चाहिए। तत्पश्चात् उस पर मृगछाला बिछा कर फिर कोई अन्य वस्त्र कम्बलादि बिछाना चाहिए। वेदव्यास ऋषि ने कुशा के ही आसन पर स्थित होकर ध्यानयोग के द्वारा महाभारत देखा था।

साधना के समय शरीर का सीधा सम्पर्क पृथ्वी के साथ कदापि नहीं होना चाहिए। यद्यपि महाभारत में कुशा मृगछाला आदि बिछाने का कोई कारण नहीं बताया गया है, परन्तु योगसिद्ध ऋषियों व महात्माओं का अनुभव है कि ध्यान के समय साधक के शरीर में विद्युत–धारा अधिक मात्रा में प्रवाहित होती है। कुण्डलिनी–शक्ति के जागरण के समय विद्युतशक्ति का अत्याधिक प्रवाह होता है। शरीर का पृथ्वी से सीधा सम्पर्क होने पर पृथ्वी उस विद्युत–ऊर्जा को आत्मसात् कर क्षीण कर लेती है। इस स्थिति में साधक की साधनाजन्य शक्ति क्षीण हो जाती है। कुशा व मृगछाला कुचालक का कार्य करके योग शक्ति को पृथ्वी में सञ्चरित होने से रोकते है। फिर साधक योगसाधना द्वारा अर्जित की गई उस शक्ति के द्वारा साधनामार्ग में उत्तरोत्तर प्रगति करता जाता है। अतः कुशा के आसन पर मृगछाला व वस्त्र का आसन बिछा कर योगसाधना करना श्रेयस्कर है।

(ग) योगसाधना हेतु उचित कालनिर्णय

योग साहित्य में योगसाधना हेतु उचित स्थान व विष्टर के पश्चात् उचित काल का भी निर्देश किया गया है। जिस प्रकार उचित काल में बोया हुआ बीज, उचित समय आने पर फल देता है, परन्तु असमय में बोया हुआ बीज, नष्ट हो जाता है, अथवा उचित समय पर फल नहीं देता,

उसी प्रकार योगसाधना का अभ्यास भी उचित काल में ही करना अधिक फलदायक होता है। रात्रि का प्रारम्भिक प्रहर तथा अन्तिम पहर साधना का सर्वोत्तम काल माना गया है। व्यास जी ने अपने पुत्र शुकदेव मुनि को योग का उपदेश करते हुए अनेक बार रात्रि का पूर्व तथा अपर काल अर्थात् अन्तिम समय को साधना का सर्वोत्तम काल कहा है। कुछ स्थान पर शब्द परिवर्तन द्वारा रात्रि के प्रथम व अन्तिम प्रहर में ही ध्यान का अभ्यास करने पर अन्तःकरण में परमात्मा का दर्शन होने की मान्यता प्रकट की है।

वस्तुतः रात्रि के प्रथम प्रहर व अन्तिम प्रहर को साधना हेतु सर्वोत्तम काल मानने के पीछे रहस्य है। इस समय (अर्थात् सूर्योदय के तीन घण्टे पूर्व व सूर्यास्त के तीन घण्टे पश्चात्) में वातावरण शान्त होता है। कोलाहल के अभाव में साधक का चित्त सरलतापूर्वक एकाग्र हो जाता है। अपि च साधक के मित्रगण सम्बन्धीगण, परिचित, सभी निद्रामग्न होते हैं। अतः उनके मन में साधकविषयक विचार नहीं होते, जिससे साधक का मन विचलित नहीं होता। प्रातःकाल वायुमण्डल में ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में होती है, जिससे प्राणायाम का पूरा लाभ मिलता है, व प्राणकोष को नवीन बल व स्फूर्ति प्राप्त होती है।

साधना हेतु रात्रि के प्रथम व अन्तिम प्रहर को सर्वोत्तम काल मानने का एक अन्य कारण भी है। शरीर में तीन नाड़ियाँ योगसाधनामार्ग में उपयोगी मानी गई हैं– इड़ा पिंगला व सुषुम्णा। इड़ा मेरुदण्ड की बाईं ओर है व पिंगला मेरुदण्ड के दाहिनी ओर है। सुषुम्णा इन दोनों के मध्य में है। मानव–शरीर में ढाई/तीन घण्टे के अन्तराल से कभी इड़ा अधिक गतिशील होती है, तो कभी पिंगला। ये दोनों नाड़ियाँ चौबीस घण्टे इसी प्रकार क्रमशः गतिशील होती हैं। स्वरविज्ञान विशारद मुनियों का कथन है कि दिन व रात्रि के संयोग काल/सन्ध्या में सुषुम्णा गतिशील होती है। सुषुम्णा में श्वास का प्रवेश होने पर कुण्डलिनी–जागरण अधिक शीघ्र हो सकता है। योगाभ्यास में कुण्डलिनी शक्ति का जागरण साधनामार्ग का एक आवश्यक महत्वपूर्ण सोपान है। अतः दिन व रात्रि के सन्ध्याकाल में चित्तनिरोध करना शीघ्र फलदायक होता है।

इस प्रकार महाभारत में रात्रि के प्रथम व अन्तिम प्रहर को योगसाधना हेतु सर्वोत्तम काल घोषित किया गया है।

निषिद्धकाल

धारणा व ध्यान साधना भलीभाँति पवित्र होकर करनी चाहिए। यद्यपि ध्यान का अभ्यास किसी भी समय, सोते, बैठते किया जा सकता है, परन्तु किसी किसी समय प्राणायाम धारणा अथवा ध्यानादि का अभ्यास निषिद्ध माना गया है। मलत्याग, मूत्रत्याग व भोजन करते समय योगाभ्यास वर्जित है।

इस प्रकार विधिपूर्वक योगाभ्यास करने वाला साधक शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

❑❑❑

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः

—श्री म. त्रि. भट्ट —

मनुष्य की सृष्टि करके प्रभु ने कला की सीमा दिखला दी है। मनुष्य के शरीर में उन्होंने कैसी–कैसी अद्‌भुत वस्तुएँ डाल दी हैं? मन, बुद्धि, हृदय, मस्तिष्क, समझने की शक्ति–ये सारी सामग्रियाँ मनुष्य के शरीर में इकट्ठी कर दी है। इन्द्रिय शक्ति भी जितनी मनुष्य में है, उतनी और किसी प्राणी में नहीं है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य के शरीर में अनेक विशेषताएँ हैं। मनुष्य ही सृष्टि में ईश्वर की अति प्रिय वस्तु है। अतएव अनुभवी संतों का कहना है कि मनुष्य अपनी सारी शक्ति लगाकर नर से 'नारायण' अथवा जीव से 'शिव' बन सकता है। जीव तो शिवरूप है ही। केवल अविद्या के कारण इसका शिवभाव लुप्त हो गया है और वह जीव भाव की प्रधानता भोग रहा है। बकरी के झुंड में पाला–पोसा गया सिंहशावक अपने को बकरा ही मानता है, उसी प्रकार शिवरूप जीव संसार की माया में पड़कर अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर माया के राज्य में भूला–भटका फिरता है और अपने शिव स्वरूप को भूल गया है।

एक शिष्य ने गुरु से पूछा कि 'महाराज! जीव स्वयं ईश्वर है, इसका प्रमाण क्या है? जीव तो सामान्य है और ईश्वर महान् है। जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ है, फिर यह कैसे कह सकते हैं कि दोनों एक ही हैं?'

गुरु महाराज बोले कि 'यह मैं तुमको समझाता हूँ। परंतु अभी तुम इस कमण्डलु में मेरे लिये गङ्गाजल ले आओ।' शिष्य कमण्डलु में गङ्गाजल भरकर लाया। तब गुरु ने कहा– 'बच्चा! यह गङ्गाजल नहीं है। मैंने तो तुम्हें गङ्गाजल लाने के लिये कहा था।' शिष्य ने कहा– 'महाराज! यह गङ्गाजल ही है। मैं अभी गङ्गाजी से भरकर लाया हूँ।' गुरु ने कहा–'यदि यह गङ्गाजल है तो गङ्गाजी जैसी धारा इसमें नहीं है, गङ्गाजी में लोग नहाते हैं, इसमें नहाते नहीं दीखते। गङ्गाजी में नौकाएँ चलती हैं, इसमें कोई नौका चलती नहीं दीखती। गङ्गाजी में मगर, मछली आदि जलचर प्राणी विहार करते है, वैसे जलचर इसमें नहीं दीखते। इसलिये यह गङ्गाजल नहीं है।' शिष्य ने कहा–'महाराज! गङ्गाजल पात्र बहुत विशाल है, इसी कारण उसमें ये सब रहते हैं, यह कमण्डलु तो नन्हा–सा पात्र है, इसमें ये सब कैसे रहेंगे? परंतु गङ्गाजी में जो जल है, वही जल यह भी है।' गुरु ने कहा– 'बच्चा! इसी प्रकार ईश्वर विराट् है और सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है, और जीव नन्हे पात्र में है, इसलिये मर्यादित है, सीमित है। परंतु वस्तुतः यह ईश्वर ही है। यदि जीव को अपने शुद्ध स्वरूप का भान होता तो वह ईश्वर ही था, ऐसी प्रतीति होती है। अग्नि में से निकली चिनगारी अग्निरूप ही है। उसी प्रकार ईश्वर से निकला अंश, अग्नि की चिनगारी की भाँति ईश्वर ही है। अन्तर इतना ही है कि ईश्वर महान् है और जीव अल्प है। परंतु अविद्या के आवरण के कारण जीव पामर बन गया है। अविद्या का आवरण दूर होने पर इसको अपने स्वरूप का भान होता है। पानी के ऊपर जमी काई को दूर हटाने से पानी मिलता है, उसी प्रकार आवरण को दूर कर दें तो

ईश्वर का दर्शन हो सकता है। इस अविद्या को दूर करने के लिये अनन्त ज्ञानियों और महर्षियों ने अनेकानेक उपाय बतलाये हैं, उनमें मनोनिग्रह के ऊपर सबसे अधिक जोर दिया गया है।

पञ्चमहाभूत–पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के ऊपर ईश्वर की सत्ता है। तथापि हम आज देख रहे हैं कि वैज्ञानिकों ने इन पाँचों के ऊपर अपनी प्रभुता जमा रक्खी है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस जीव में ईश्वरी शक्ति है। परंतु जीव स्वयं अपने को अल्पज्ञ, शक्तिहीन और पामर मानकर निष्क्रिय बना रहता है।

जो पुत्र पिता को अपने समान या अपने से सवाया दीखता है, वह अधिक प्रिय होता है। उसी प्रकार ईश्वर को भी अपने जैसा शक्तिशाली पुत्र, अर्थात् पुरुषविशेष प्रिय होता है और उसी के ऊपर प्रभु की कृपा अवतरित होती है।

मनुष्य को कसौटी पर कसने के लिए ईश्वर ने जगत् में अनेक प्रलोभन डाल रक्खे हैं। इन प्रलोभनों को दूर हटाकर यदि मनुष्य अपने ध्येय पर डटा रहे तो वह परमपद को पा सकता है। परंतु अधिकांश मनुष्य मान बैठे हैं कि इस संसार में आकर मनुष्य को सिर्फ खाना, पीना और मौज उड़ाना है। इसी में मनुष्य–जन्म की सार्थकता है। यदि मनुष्य–जन्म का यही हेतु हो तो, यह तो सभी पशु–पक्षी और जीव–जन्तुओं में भी है। फिर मनुष्य जन्म की महत्ता क्या है? परंतु चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते–करते मोक्ष के द्वार–स्वरूप आर्यदेश और सब सामग्री की सुलभता के साथ मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। इसमें अवश्य कोई हेतु निहित है। परंतु इस अमोघ मानव–जन्म को आज मनुष्य व्यर्थ नष्ट कर रहा है। ईश्वर के द्वारा इसके लिये नियोजित मर्यादा का इसने यथेच्छ उल्लंघन किया है। यदि मर्यादा में रहकर गन्तव्य स्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। नदी यदि अपने करारारूपी मर्यादा को तोड़कर स्वेच्छा विहार करे तो कितने ही गाँवों को मटियामेट कर दे, खेती–बारी बर्बाद कर दे, इतना ही नहीं, इसके साथ ही वह अपने प्रियतम सागर की प्राप्ति से वंचित रह जाये। अतएव इस मर्यादा के पालन में यत्नशील रहकर वह अपने गन्तव्य स्थान में सुखपूर्वक पहुँच जाती है। यही स्थिति मनुष्य की है। मनुष्य ईश्वर को पाने के लिये शास्त्रनिर्दिष्ट मर्यादा का यथार्थ पालन करके नियत पथ में चलकर प्रभु तक पहुँच सकता है, भव–भ्रमण का निवारण करके अगाध अविनाशी सुख–सिन्धु में निमज्जित होकर तदाकार हो सकता है। परंतु अविद्या और मोह के कारण शास्त्र और सत्पुरुषों के द्वारा निर्दिष्ट मर्यादा इसे नहीं दीखती। संसार का क्षणभङ्गुर भोग–सुख इसे बहुत प्रिय लग रहा है, संसार के प्रलोभनों में यह डूबा हुआ है। इसका मुख्य कारण इसका बहिर्मुख मन है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

संसार का बन्धन, भवाटवी का भ्रमण भी मन के ही द्वारा होता है तथा परमपद की प्राप्ति, मोक्ष–लाभ भी मन के द्वारा ही होता है। इसलिये मन ही इसमें कारणभूत है। ऐसा शास्त्र कहते हैं। मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण मन है। इस मन को सुसंस्कृत बनाया जाये तो यह मोक्ष अर्थात् परम शाश्वत सुख प्रदान करता है और यदि यह कुसंस्कार–युक्त रहे तो इस भवसागर के दुःखदायी भँवर में, जन्म–मृत्यु के चक्कर में डाले रखता है।

हम जानते हैं कि संसार की तृष्णा का त्याग मोक्षप्राप्ति के लिये उपयोगी साधन है। परंतु

फिर भी अधिकांश मनुष्य तृष्णा के मिथ्या माधुर्य का त्याग नहीं करते। इसका कारण यह है कि वे अपने मन के दास हैं। मन जैसे नचाता है वैसे नाचते हैं। हम संसार के क्षणिक और तुच्छ भोग–सुखरूपी मृगमरीचिका के पीछे तृष्णा के वश होकर दौड़ रहे हैं। हम हृदय से जानते, देखते और अनुभव करते हैं कि तथाकथित सांसारिक सुख नाशवान् और क्षणिक है, तथापि हम अपने मन को संसार के राग–रंगों से हटाकर अपने ध्येय में नहीं लगा सकते, यह हमारी लज्जाजनक दुर्बलता है। हमारी आज की दुर्दशा का मुख्य कारण हमारा यह मन ही है। हम जिस कार्य को अपने अन्तःकरण में बुरा समझते हैं और करना नहीं चाहते, वह कार्य भी हमारा कुसंस्कारी मन हमसे बलपूर्वक कराता है। मनुष्य के बुरा या भला बनने का कारण उसके कर्म हैं और कर्म का सबसे बड़ा आधार मन है।

कर्म दो प्रकार से होते हैं। कुछ कर्म अकेला मन ही करता है और कुछ कर्म मन इन्द्रियों की सहायता से करता है। मनन, चिन्तन, भावना और स्वाध्याय आदि कार्य अकेला मन ही कर सकता है। जब कि उठना, बैठना, जाना, आना, बोलना, देखना, सुनना, खाना–पीना इत्यादि काम इन्द्रियों की सहायता से होते हैं। ऐसे कार्य इन्द्रियों की सहायता के बिना नहीं हो सकते। इन्द्रियाँ बहिर्मुख और जड़ होने के कारण अपनी इच्छा पूरी करने के लिये मन के पीछे–पीछे भटकती हैं। अतएव इन्द्रियाँ मन के वशवर्ती हो गयी हैं। हमारे छोटे–बड़े सब कार्यों का सूत्रधार मन है, इसी कारण शास्त्रकार और ज्ञानी महर्षियों ने मनोनिग्रह पर बड़ा जोर दिया है। इन्द्रियाँ मनरूपी राजा की नर्तकी हैं। मन की मर्जी से वे नृत्य करती हैं और मन को प्रसन्न रखती हैं तथा स्वयं भी तुच्छ आनन्द प्राप्त करती हैं। वस्तुतः मन को जीते बिना इन्द्रियाँ जीती नहीं जा सकतीं।

मन को निरंकुश छोड़कर यथेच्छ विहार करने देना और केवल इन्द्रियों पर काबू रखना वञ्चनामात्र है। जब तक मन काबू में न हो, इन्द्रियों पर अंकुश रखने का प्रयत्न विशेष लाभदायक नहीं होता। सारे उपद्रवों का मूल तो मन है। वृक्ष की डाली और पत्ते काट डालने से वृक्ष नष्ट नहीं होता,वह पुनः पल्लवित हो उठता है। परंतु डाली और पत्ते की ओर न देखकर यदि केवल मूल को नष्ट कर दिया जाये तो वृक्ष स्वयं नष्ट हो जायेगा। अतएव मन का निग्रह ही सच्चा निग्रह है, यही सच्चा संयम है। राजा वश में हो जाये तो उसकी सेना अपने–आप वश में हो जाती है, उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। किसी दुष्ट मनुष्य की दुष्टता का कारण भी उसका मन होता है और किसी महापुरुष की महानता का कारण भी उसका मन होता है। एक का मन कुसंस्कारपूर्ण होता है और दूसरे का मन सुसंस्कृत होता है। एक तो मन का गुलाम होता है और दूसरा मन को अपने अधीन रखता है अर्थात् मन उसका गुलाम होता है।

मनुष्य के मन में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। मनुष्य को उन्नति के शिखर पर भी ले जाती हैं और अवनति के भयंकर दुःखद गर्त में भी डाल सकती हैं।

पारा कच्चा हो तो वह अनिष्टकारक होता है और यदि शुद्ध किया हो तो वह हितकर होता है। कच्चे पारे से मनुष्य का जीवन नष्ट होता है और संस्कार किये हुए शुद्ध पारे को आयुर्वेद ने चमत्कारिक औषध के रूप में वर्णन किया गया है। मन की स्थिति भी पारा–जैसी है। संस्कारहीन मन मनुष्य के अमूल्य जीवन को नष्ट–भ्रष्ट कर डालता है और सुसंस्कृत मन मनुष्य के उद्धार का

कारण बनता है।

अब प्रश्न यह होता है कि मन को सुसंस्कृत कैसे बनायें? क्या अपने में यह शक्ति नहीं है? नहीं, शक्ति तो है, परंतु उस का हम उपयोग नहीं करते। यदि कोई यह कहे कि मन तो हमारे अधीन है, फिर हम इसके गुलाम कैसे हैं? इसका उत्तर यह है कि घोड़ा अपने सवार के कब्जे में होता है, परंतु यदि बिना लगाम के सवार घोड़े पर सवारी करे तो वह घोड़े के अधीन हो जाता है और सुरक्षित नहीं रहता, फिर तो वह घोड़ा जहाँ ले जाता है, वहीं उसको जाना पड़ता है। यही हाल मन का है।

एक बुढ़िया माँ के मन में एक बार विचार आया कि मैं दूसरी सब सवारियों पर तो बैठ चुकी हूँ, घोड़े पर भी चढ़ चुकी हूँ, पर ऊँट की सवारी मैंने कभी नहीं की। दैवात् एक बार किसी पर्व के दिन वह बुढ़िया माँ तीर्थ में स्नान करके झोले में वस्त्र डालकर, हाथ में जल भरा लोटा लेकर घर लौट रही थी। रास्ते में उसने एक पेड़ के नीचे एक ऊँट को बैठे देखा और बहुत दिन का मन में दबा हुआ विचार प्रकट हो आया। बहुत दिनों से ऊँट पर बैठने का विचार कर रही हूँ तो आज क्यों न इस ऊँटपर बैठ कर घर जाऊँ? ऐसा सोचकर बुढ़िया माँ उस ऊपर बैठ गयी। जैसे ही बुढ़िया माँ ऊँट पर बैठी कि वह ऊँट अपने स्वभाव के अनुसार खड़ा हो गया और मनमाने रास्ते पर चल पड़ा। बुढ़िया माँ घबरायी। ऊँट को कैसे रोकूँ और कैसे इसे फिर से बैठाऊँ? यह बुढ़िया माँ को ज्ञात न था। ऊँट के नकेल भी नहीं बँधी थी, कोई साधन भी पास न था। इसलिये बुढ़िया माँ निरूपाय थी। ऊँट जंगल की ओर चलने लगा। रास्ते में किसी जान पहचान वाले एक आदमी ने पूछा, 'माँजी! कहाँ जारही है?' तब बुढ़िया ने उत्तर दिया, 'भाई! जहाँ ऊँट ले जाये वहाँ।'

हमारी स्थिति भी उस बुढ़िया माँ के जैसी है। हम मन के ऊपर सवार हैं, परंतु मन को लगाम नहीं है तथा इस को वश में करने की कला भी हाथ में नहीं है। इसलिये हमको मन जहाँ ले जा रहा है, वहीं हम चले जा रहे हैं। अपनी इच्छा तो घर जाने की है—परम पद को प्राप्त करने की है। परंतु मन रूपी ऊँट को रोकना नहीं आता। इस कारण बेकाबू मन पर सवार होकर हम लाचार हो गये हैं। मन अपने अधीन है, परंतु जन्म से ही निरंकुश—बेलगाम होने के कारण पूर्णतः उदण्ड और उन्मत होकर हमारे ऊपर चढ़ बैठा है। यदि हमने शुरू से ही इसके ऊपर अंकुश रक्खा होता तो यह ऐसा प्रचण्ड स्वेच्छाचारी बनकर हमें परेशान न करता और इसका निग्रह दु:साध्य न बन जाता।

प्रारम्भ में ही थोड़े प्रयत्न से जिस मन को हम परम हितकारी मित्र बना सके होते, उसी को हमने अपनी असावधानी से ऐसा शत्रु बना लिया है। अब तो 'जब जागे तभी सवेरा' नीति के अनुसार प्रयत्न शुरू कर देना चाहिये। शत्रु जितना बलवान् हो, उससे अधिक बलवान् बनने की आवश्यकता है। विद्युत्गति से भी तीव्रगामी मन को रोकने में अत्यन्त बल की आवश्यकता है। अधिक जागृति और लगन की जरूरत है।

सारी सिद्धियों का मूल 'मन संयम' में है। परंतु वह केवल साधारण या नाममात्र के पुरुषार्थ से प्राप्त होने वाला नहीं है इसके लिये प्रबल पुरुषार्थ की तथा योग—युक्ति की आवश्यकता है। विकराल जंगल के जीव को वश में करने के लिये जैसे तीव्र उपाय की आवश्यकता है, उसी प्रकार मनोनिग्रह के लिये भी तीव्र उपाय जरूरी है।

मन को पहले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँच विषयों के चिन्तन से विरत करके शुभ चिन्तन में लगाना चाहिये। विषयों की असारता का पाठ इसको देते रहना चाहिये। फिर धीरे–धीरे विषयों से इसमें वैराग्य उत्पन्न कराना चाहिये। संसाररूपी घोर वन में से निकालकर भगवच्चिन्तन, तत्वविचाररूपी वृक्ष की धड़ में इसको दृढ़ता पूर्वक बाँध देना चाहिये और बुद्धिरूपी अंकुश के द्वारा इसको वश में करने का सतत प्रयत्न करना चाहिये। श्रीमद्‌भगवदगीता में भगवान श्री कृष्ण ने मनोनिग्रह उपाय 'अभ्यास' और 'वैराग्य' बतलाया है। योगेश्वर महर्षि पतञ्जलि ने भी योगशास्त्र में 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' यह सूत्र लिखा है। अभ्यास के द्वारा उद्धत मन वश में होता है और इसी के साथ–साथ वैराग्यद्वारा उसको निर्मल, कोमल और शान्त बनाया जा सकता है। अभ्यास के साथ वैराग्य की भी आवश्यकता है।

संसार के महत्कार्यों का सम्पादन करने में दीर्घकाल तक सतत पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार बहिर्मुख होकर भटकने वाले मन को वश में करने के लिये दीर्घकाल तक आदरपूर्वक प्रबल पुरुषार्थ करने की नितान्त आवश्यकता है। अल्पकाल के थोड़े प्रयत्न से एकाएक मन वश में नहीं हो सकता, इसके लिये लम्बे समय तक प्रबल परिश्रम करना पड़ता है।

मनोनिग्रह का दूसरा उपाय श्री कृष्ण भगवान ने 'वैराग्य' बतलाया है। मनुष्य का मन संसार के रागद्वेष के चक्कर में पड़कर अति चंचल तथा मलिन बन गया है। अनेक जन्म से वह सांसारिक विषयों में भटक रहा है। राग–द्वेष की तरंगों ने मनरूपी समुद्र में क्षोभ उत्पन्न करके इसको अशान्त और तूफानी बना दिया है। इसमें कुविचारों की घोर तरंगे उठ रही है और जीवन नौका संकटापन्न होकर भयानक स्थिति में पड़कर अन्त में विनाश को प्राप्त हो रही है। इस राग–द्वेष को निर्मूल करने का एक ही उपाय है– 'वैराग्य'।

त्याग और वैराग्य–इन दोनों में अन्तर है। त्याग इन्द्रियों द्वारा हो सकता है और वैराग्य मन के द्वारा होता है। विषयों की ओर से बलात् इन्द्रियों को रोक रखने पर भी मन उन विषयों में रममाण रहता ही है। अर्थात् त्याग की अपेक्षा वैराग्य विशेष उपकार करने वाला है।

आर्यावर्त में ऐसे असंख्य महात्मा हो गये हैं जिन्होंने मनोनिग्रह के द्वारा असम्भव को सम्भव और अशक्य को शक्य बनाया है। मन संयम के द्वारा अपनी इच्छाशक्ति अमोघ बनती है। यह अमोघ इच्छाशक्ति दृढ़ संकल्प की जननी है और दृढ़ संकल्प ही उद्धार का मूलमन्त्र है।

इन्द्रियों को उन के विषयों में लगानेवाला, प्रवृत्त करने वाला मन है। मन यदि इन्द्रियों का सहायक न बने तो इन्द्रियाँ कुछ भी न कर सकें।

लिखना पढ़ना चातुरी, तीनों बात सहेल।
कामदहन मनवशकरन, गगन चढ़न मुश्केल।।

'जिसने मन को जीता उसने जगत् को जीत लिया' —ऐसी कहावत भी है। 'जित जगत् केन? मनो हि येन।'

मन की शक्ति अथाह है, अद्‌भुत है। हम सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो जान पड़ेगा कि मन कैसे अद्भुत विचार करता है, कितनी अधिक यादवाश्त रखता है तथा कितनी कल्पनाएँ करता रहता है और इसकी गति कितनी वेगवान् है। यह सब देखने पर मन की विपुल शक्ति का हमको भान होता है। पर साथ ही यह मन मनुष्य का आज्ञाकारी नौकर भी है। मनुष्य की इच्छाओं की यह थोड़ी बहुत पूर्ति करता है। मनुष्य जो चाहे वह काम मन से करा सकता है। मनुष्य जो कुछ चिन्तन करता है,

उसको मन उसके पास हाजिर कर देता है। इतना ही नहीं, मनुष्य की इच्छा के अधीन वह मृत सगे–सम्बन्धी तथा स्नेही जनों को भी स्वप्न में हाजिर करके उनके साथ भेंट–मुलाकात और बातचीत भी करा देता है। वह स्वप्न में देवी–देवता या संत–महात्माओं के दर्शन भी कराता है। अशक्य वस्तु को भी यह शक्य बनाता है। मनुष्य को उसकी इच्छा के अनुसार संसार में भ्रमण भी कराता है और संसार के जन्म–मरण के चक्र से उबार कर परम शाश्वत सुख अर्थात् मोक्ष भी प्रदान कराता है। इसी कारण ज्ञानी, अनुभवी संतों ने कहा है–

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

संसार चाहिये तो उसे भी मन प्रदान करता है और परम सुख, मोक्ष चाहिये तो उसको भी मन प्रदान करता है। मनुष्य की सेवा में चौबीस घण्टे उसकी आज्ञा पूरी करने के लिये मन खड़ा तैयार रहता है। यह कभी थकता नहीं, न कभी वृद्ध होता है। मन सतत उद्योग में रहता है। इसको किसी काम में लगाये रखना मनुष्य के हाथ में है। इसके जैसा आज्ञाकारी मित्र या नौकर दूसरा कोई नहीं है। परन्तु इस मित्र को अपने वश में कर रखने के लिये चतुराई की आवश्यकता है।

व्यवहार में भी जिस काम को न करने के लिये बालक को कहिये, उस काम को वह खास करके करेगा। अतएव शिक्षण शास्त्र में कहा है कि बालक को नकारात्मक आज्ञा नहीं देनी चाहिये। 'झूठ मत बोलो'–यह न कहकर कहना चाहिये कि 'सच बोलो।' 'आलस्य न करो'– के स्थान में कहना चाहिये कि 'उद्यमी बनो।' इसी प्रकार मन को भी जिस काम से निवारण किया जायेगा, उसमें उसकी विशेष प्रवृत्ति रहेगी। एक संत ने एक शिष्य से कहा कि जब ध्यान करने बैठो तो अमुक आदमी को याद मत करना। अब शिष्य जैसे ही ध्यान करने के लिये बैठा, वैसे ही वह आदमी उसके सामने, उसके मनोराज्य में उपस्थित हो गया। इसी प्रकार मन से जो काम करवाना न चाहोगे, उस काम को वह खास करके करेगा।

मन कभी बेकार नहीं रहता, वह प्रतिक्षण कुछ–न–कुछ करता ही रहता है। मनुष्य निद्रित रहता है, तब भी मन स्वप्न सृष्टि में विचरण करता रहता है। इस मन को विहित कार्य में सतत लगाये रखने के लिये मनुष्य को निरन्तर जागरूक रहना चाहिये और मन क्या कर रहा है– इसकी सजग होकर पहरागिरी करनी चाहिये, ऐसा महापुरुषों का कहना है।

मन का रुझान संसार की ओर होने के कारण यह संसार के प्रलोभनों में पड़ जाता है। नयी–नयी उपाधि खड़ी कर देता है। कुतर्क और कुविचार में लग जाता है। परन्तु शास्त्रों का कहना है कि उसको बार–बार युक्तिपूर्वक समझाकर श्रेय, कल्याणकारी मार्ग में लगाना चाहिये। मन बलात्कार करने से काबू में नहीं आता, परन्तु समझाने से समझता है। जो मनुष्य मन को वश में नहीं रखता, बल्कि मन की इच्छा के अनुसार बरतता है, वह अवनति के गर्त में गिरता है। इसके अनेक उदाहरण इतिहास में मौजूद हैं।

मन को यदि भलीभाँति समझाकर सुसंस्कार–सम्पन्न किया जाये तो वह सारे अच्छे–अच्छे विचारों में रमता रहता है और ये सद्विचार क्रिया में परिणत होते रहते हैं। अच्छी तरह सुशिक्षित बुद्ध मन शरीर को भी नीरोग रख सकता है। परन्तु मन का स्वभाव चंचल होने के कारण वह घड़ी–घड़ी में भटकता रहता है, स्थिर नहीं रहता। वह वायु के समान चंचल है।

मनुष्य जप या ध्यान में बैठा रहता है, तो भी उसका मन बाहर के विषयों में भटकता है। हाथ में माला फिरती रहती है और जीभ से मन्त्र–जप होता रहता है, उस समय भी मन बाहर भटकता रहता है, अथवा दिनभर के कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार करता रहता है, प्रोग्राम बनाता रहता है। ध्यान और

जप करते समय मन तरंगित होता रहता है अर्थात् जप और ध्यान में जितना चाहिये उतना उपकारक नहीं होता। फिर भी हम यह सब करते रहने पर भी संतोष रखते हैं। हाड़–मांस के चोले, इस शरीर को प्रभु की मूर्ति के सामने रखकर मन को हम यथेच्छ भ्रमण करने देते हैं। जिस मन को प्रभु में लगाना है, वह तो संसार के रागरंग में विहार करता है, अर्थात् प्रभु में लगता नहीं। जिस कार्य में मन नहीं लगता, वह काम ठीक नहीं होता।

छुट्टा और हरहा पशु को वश में करने के लिये यदि उसको मारें, पीटें और उसपर जुल्म करें तो वह और अधिक हरहा बन जाता है और छूट के रहने की कोशिश करता है। कुछ भी करो, वह वश में नहीं होता। परंतु यदि उसको पुचकार कर, प्रेम दिखाकर, खाने का लालच देकर धीरे–धीरे विश्वास जमाकर पास बुलाये तो वह लालच और प्रेम के वश होकर पास आता है, तब वह रस्सी से बाँधा जा सकता है। इसी प्रकार मन को कष्ट देकर बलात् वश में करने का प्रयत्न किया जाये तो वह भटकता हुआ मन और भी दूर भागता है और मनुष्य को हैरान, परेशान कर डालता है। परंतु यदि उसको प्रेम से संसार की असारता समझाकर, मोक्षसुख का लालच देकर, पटाकर, पुचकारकर स्थिर किया जाये तो धीरे–धीरे वह वश में हो जाता है। उसका केवल सद्‌विचार, सदाचार, मोक्षसुख और ब्रह्मानन्द आदि में प्रेम उत्पन्न करना जरूरी है।

बालक को यदि उसके माँ–बाप 'तू तो आवारा है, उद्दण्ड है, बदमाश है, लम्पट है' आदि वाक्य जब–तब कहकर भर्त्सना देते रहें तो वह बालक बदमाश, लम्पट और आवारा हो जाता है और दिन–पर–दिन उच्छृंखल बनता जाता है। परंतु उसको समझाकर, पटाकर, उसकी प्रशंसा करके, कुल की कीर्ति का ध्यान दिलाकर, अच्छे काम के लिये प्रोत्साहन देकर प्रेमपूर्वक सद्‌विचार, सदाचार और सद्धर्म की ओर अग्रसर कराने का प्रयत्न किया जाये तो वह बालक सुधर जायेगा और आसानी से वश में हो जायेगा। इसी प्रकार मनुष्य मन को, 'यह खराब है, भटक रहा है, राक्षस बन रहा है, भ्रमर–जैसा चंचल है, दुष्ट है, यह समझने वाला नहीं है' – इत्यादि कहते रहने से अथवा चिन्तन करने से मन ढीठ होकर और बहक जाता है और फिर किसी प्रकार वश में नहीं होता। परंतु मन को उसकी महत्ता समझाकर सारासार–विवेक में लगाकर उसको धीरे–धीरे स्थिर करवाने तथा सारे श्रेयस्कर विचारों में, शुभ भावनाओं में लगाये रखने का सात्त्विक प्रयत्न किया जाये तो यह मन मनुष्य का गुलाम बन जाता है। फिर इसे जो काम सौंपा जाता है वह प्रसन्नता से करता है। परंतु यह काम चार–छः दिन में या वर्ष दो वर्ष में बनने वाला नहीं है। इसके लिये तो सतत प्रयत्न आवश्यक है। हम कुछ दिन प्रयत्न करके बैठ रहें तो यह काम होने वाला नहीं। संसार के तुच्छ विषयों में हमारा अधिक अनुराग है, इनमें हम कितना अधिक रममाण रहते हैं, इसको हमारा मन भी समझ गया है, वह हमको पहचान गया है। इसलिये यह हमारे आगे–आगे चलकर हमारी वृत्तियों का मार्गदर्शन करता है और हमको दौड़ाता है। हम व्यवहार और परमार्थ दो घोड़ों पर सवारी करने की इच्छा करते हैं, अर्थात् हमको एक में भी निष्ठा नहीं है। अतएव हमारा प्रयत्न निष्फल हो जाता है। हमारा प्रयत्न भी ऊपरी और क्षणिक है– इस बात को भी मन भलीभाँति समझता है। अतएव यह वश में नहीं होता। और हम उलटे उसे विभिन्न प्रकार के विषयों की ओर आकर्षित करते हैं। अतएव वह रात में नींद में भी भटकता हुआ नयी–नयी सृष्टि रचता रहता है। नींद के छः घण्टों को छोड़कर शेष 18 घंटे में कितनी देर हम मन, अन्तःकरण और इन्द्रियों को एकाग्रतापूर्वक संयम में रखकर प्रभु के पास बैठते हैं–इस पर विचार करें और मन को स्नेहपूर्वक अधिक से अधिक प्रभु में लगाने का प्रयत्न करें।

■ ■ ■

उपलब्धियाँ

– भूपेन्द्र 'अंकुश' जलेसर –

गुरु मन्त्र पाके हमने क्या क्या न पा लिया है।
कर्मों का ऊँचा पर्वत समतल करा लिया है।। टेक।।
जीवन–मरण की कड़ियाँ हमको रूला रही थी,
उत्थान औ पतन का झूला झुला रहीं थीं,
अज्ञान–नींद–गोली देकर सुला रही थी।।
नई रोशनी दिखाई, नया रास्ता दिया है।।1।।
था प्यार–पय का प्यासा, वो प्यास बुझ गई है;
अन्तर की घोर उलझन पल में सुलझ गई है।
मन–डोर प्रभु–चरण में लेकिन उलझ गई है।।
फन्दे को दूर करने फन्दा फँसा लिया है।।2।।
मेरे हृदय–कलश मे अमृत–मिठास भर दी;
निर्जीव फैफड़ों मे जैसे कि श्वाँस भर दी।
श्वाँस–समीर में फिर अपनी सुवास भर दी।।
परदे के पार क्या है? परदा हटा दिया है।।3।।
उपकार के लिये प्रभु अवतार बन के आये;
नर रूप मे निरजन साकार बन के आये।
उपदेश की जगह प्रभु व्यवहार बन के आये।।
मन–हस्ति के कदम पर 'अंकुश' लगा दिया है।।4।।

■ ■ ■

गुरु की गरिमा

शिक्षक, आचार्य, उपाध्याय और अध्यापक शब्दों की अपेक्षा लोकव्यवहार में पढ़ाने वाले व्यक्ति के लिए 'गुरु' का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा। गुरु शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की जाती है। उदाहरणार्थ–

(अ) **'गरति सिंचति कर्णयोर्ज्ञानामृतम् इति गुरुः'** अर्थात् जो शिष्य के कानों में ज्ञानरूपी अमृत का सिंचन करता है वह गुरु है (गृ सेचने भ्वादि:)।

(आ) **'गिरति अज्ञानान्धकारम् इति गुरुः'** अर्थात् जो अपने सदुपदेशों के माध्यम से शिष्य के अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट कर देता है वह गुरु है (गृ निगरणे तुदादि:)।

(इ) **'गृणाति धर्मादिरहस्यम् इति गुरुः'** अर्थात् जो शिष्य के प्रति धर्म आदि ज्ञातव्य तथ्यों का उपदेश करता है वह गुरु है (गृ शब्दे क्यादि:)।

(ई) **'गारयते विज्ञापयति शास्त्ररहस्यम् इति गुरुः'** अर्थात् जो वेदादि शास्त्रों के रहस्य को समझा देता है वह गुरु है (गृ विज्ञाने चुरादि:)।

शिष्य–वर्ग में अपने गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश और परब्रह्म के समकक्ष मानने की यह सूक्ति बहुत प्रचलित है–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

सब प्रकार के शिक्षकों के लिये गुरु शब्द का प्रयोग सार्वभौमवत् प्रतीत होता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है–

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्।।

(याज्ञवल्क्यस्मृति 1/2/15)

अर्थात् 'उपनयन की विधि सम्पन्न हो जाने पर गुरु अपने शिष्य को 'भूः भुवः स्वः' – इन व्याहृतियों का उच्चारण कराकर वेद पढ़ावे और दन्तधावन एवं स्नान आदि के द्वारा शौच के नियमों को सिखावे तथा उसके हितावह आचार की भी शिक्षा दे।' आचार परम धर्म माना गया है। इसके सम्बन्ध में शास्त्रों में बहुत कुछ लिखा गया है। उदाहरणार्थ– याज्ञवल्क्यस्मृति तीन प्रधान अध्यायों में विभक्त है। इनमें प्रथम अध्याय आचाराध्याय ही है। आचारादर्श आदि अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी आचार–विषयक सामग्री से परिपूर्ण है।

■■■

बिगड़ी बनाने वाले बिगड़ी बना दे !

जगदीश राए बंसल ''अधम'' गोहाना

बिगड़ी बनाने वाले बिगड़ी बना दे
भंवर में है नैया मेरी पार लगा दे

जन्म-जन्म मैंने पाप कमाया
पूजा पाठ कभी याद न आया
भूल भुलैया मेरी माफ करा दे, बिगड़ी..........

तीन लोक में तेरा नाम बड़ा है
सिद्ध गुफा में सिद्ध योग भरा है
मुझ को वहाँ का सेवा दार बना दे, बिगड़ी..........

काठ के सहारे लोह तर जाता
सर्व समर्थ से बेड़ा पार हो जाता
अपनी नैया में मुझ को बैठा दे, बिगड़ी..........

कितनों को तूने जीवन दान दिया है
घनेरों को तूने भय रहित किया है
मुझ पर भी ऐसा रहम दिला दे, बिगड़ी ....

पधार किसी घर तूने भोज किया है
साईकिल पर आकर दीक्षा दिया है
मुझ में भी ऐसी लहर जगा दे, बिगड़ी..........

स्नान के लिए पानी गर्म किया है
फलाहार का भी इन्तजाम किया है
''अधम'' के घर भी कभी बैल बजा दे, बिगड़ी..........

■ ■ ■

योगसाधन-रहस्य

– स्वामी श्री दयानन्द जी –

आर्यशास्त्र में भक्ति को उपासना का प्राण और योग को उपासना का शरीर कहा गया है। जिस प्रकार बिना प्राण के शरीर रह नहीं सकता, उसी प्रकार बिना भक्ति के उपासना बन ही नहीं सकती, इस कारण भक्ति उपासना का प्राण है। शरीर के बिना जिस तरह शरीरी आत्मा का भोग असम्भव है उसी प्रकार योग की शैली के बिना उपासना का कोई साधन बन ही नहीं सकता। इसी कारण योग को उपासना का शरीर कहा है। आवरण, विक्षेप आदि भावों से अन्तःकरण के युक्त रहने से परमात्मा का स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता, इस कारण सर्वव्यापी परमात्मा जीव के अन्तःकरण में विराजमान रहने पर भी उससे दूर हो जाते है; अथवा यह कहिये कि, अन्तःकरण रूप जलाशय सद्वृत्तियों से तरङ्गायित और आलोड़ित रहने के कारण परमात्मारूपी सूर्य का यथार्थ स्वरूप उस जलाशय में दिखायी नहीं पड़ता। जब साधन की सुकौशलपूर्ण क्रिया द्वारा उस जलाशयरूपी अन्तःकरण का वृत्तिरूपी तरङ्ग एकबार ही शान्त हो जाता है तभी सूर्यप्रतिबिम्ब अथवा अपना मुख दर्शक उसमें देख सकता है। अतः योगशास्त्र में कहा है–

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'

चित्तवृत्तिनिरोध की सुकौशलपूर्ण क्रियाओं को योग कहते है। योगक्रिया द्वारा क्रमशः अन्तःकरण की वृत्तियाँ शान्त होते–होते जब एकबारगी ही शान्त हो जाती हैं उस अवस्था का नाम योगयुक्त अवस्था है। उसी अवस्था में द्रष्टा अर्थात् परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकट हो जाते है। हम यह दिखा चुके हैं कि, चित्तवृत्तियों के चाञ्चल्य के कारण सर्वव्यापक तथा जीव–हृदय–विहारी परमात्मा जीव के हृदय से छिप जाते है, यही उनका जीव से दूर हट जाना है। जिन–जिन साधनों के द्वारा इस प्रकार दूर हटे हुए परमात्मा से अनाथ हुआ जीव उनको निकट होकर सनाथ हो जाता है उन्हीं को उपासना कहते हैं, अर्थात् उप–समीपे, आस्यते–प्राप्त होता है, अनया–इस साधन के द्वारा, इति उपासना। अतः जिन–जिन क्रियाओं के अवलम्बन से परमात्मा के निकट होने में जीव समर्थ होता है, उन्हीं को उपासना कहते है और जब चित्तवृत्तिनिरोध होते–होते उसकी पूर्णावस्था में परमात्मा अन्तःकरण में प्रकट होकर जीव के निकटस्थ हो जाते है तो यह मानना ही पड़ेगा कि, उपासना पक्ष में सर्वथा सर्वरूप से सहायक योग उपासना का शरीर रूप है।

योगशास्त्र में व्युत्थान दशा से लेकर निरोध दशापर्यन्त चित्त की पाँच भूमियाँ बतायी गयी है, यथा मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। चित्त की मूढ भूमि वह कहलाती है जिसमें चित्त सदसद्विचारहीन होकर, आलस्य, विस्मृति आदि के वश होकर बेलगाम घोड़े की तरह

कुछ-से-कुछ करता रहता है। यह भूमि तमोगुण की है। चित्त की रजोगुणमयी दूसरी भूमिका नाम क्षिप्त है। इसमें चित्त किसी एक कार्य में लगकर बुद्धि की सहायता से विचार करता हुआ किसी लक्ष्य का साधन करता रहता है। यथा-लगामवाला घोड़ा या विचारवान् प्रवृत्ति पर मनुष्यों के चित्त की भूमि। चित्त की तीसरी भूमि का नाम विक्षिप्त है। यह भूमि सत्वगुण की है और क्षिप्त से विशिष्टतायुक्त होने से ही इसका नाम विक्षिप्त है। इस भूमि में चित्त सुख, दुःख, विचार, आलस्य रजोगुण, तमोगुण आदि से पृथक् होकर शून्य हो जाता है और उसमें कोई भी चिन्ता नहीं रहती है। इस भूमिका उदय महात्माओं में अधिक और सांसारिक जीवों में कभी-कभी बहुत थोड़ी देर के लिये होता है। तदनन्तर चित्त की जो दो भूमियाँ हैं वे साधन अवस्था की हैं। इनमें से एकाग्र भूमि में ध्याता ध्यानयोग के द्वारा ध्येय वस्तु में चित्त को ठहराने का प्रयत्न करता है जिसके लिये भगवान् श्रीपतञ्जलिजी ने यम, नियम, आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्गयोगरूप साधारण उपाय और ईश्वरप्रणिधान, अभिमतध्यान, स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बन, ज्योतिष्मती विशोकादर्शन आदि कई असाधारण उपायों के द्वारा एकाग्र भूमि में उन्नति लाभ करके अन्त में जब साधक के चित्त में ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटी का विलय साधन होता है तभी अन्तिम भूमिरूप निरुद्ध भूमि का उदय होता है। इसी निरुद्ध भूमि में ही योगी क्रमशः सम्प्रज्ञात समाधि की चार अवस्थाओं को अतिक्रम करके अन्त में सिद्धावस्था को प्राप्तकर मुक्त हो जाता है। अतः अधिकारानुसार चाहे कोई किसी रास्ते से ही चले योगशास्त्र की बतायी हुई एकाग्र भूमि से निरुद्ध भूमि में पहुँचने का नाम ही साधन है।

चित्तवृत्तिनिरोध करनेवाली सुकौशलपूर्ण जितनी क्रियाएँ हैं उन्हीं को पूज्यपाद महर्षियों ने अनेक गवेषणा करके निश्चय कर दिया है कि चित्तवृत्तिनिरोध करनेवाली क्रियाशैली को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं और चित्तवृत्तियों को निरोध करने के मार्ग को आठ सोपानों अथवा आठ मार्ग विभागों में विभक्त कर सकते हैं। यह संसार नाम रूपात्मक है अर्थात् परिदृश्यमान संसार का कोई भी अंग नामरूप से बचा हुआ नहीं है। इसी कारण नामरूप में फँसकर ही जीव बद्ध होता है। चित्त की वृत्तियाँ भी नामरूप के ही अवलम्बन से अन्तःकरण को चञ्चल किया करती हैं। अतः जहाँ मनुष्य गिरता है उसी भूमि को पकड़कर उठना चाहिये। अस्तु, नामरूप के अवलम्बन से चित्तवृत्तिनिरोध की जितनी क्रियाएँ हैं उनको मन्त्रयोग के अन्तर्गत करके महर्षियों ने वर्णित किया है।

हठयोग का ढंग कुछ और ही है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का ही परिणाम है। इस कारण स्थूल शरीर का प्रभाव सूक्ष्म शरीर पर बराबर समानरूप से पड़ता है। अतः स्थूल शरीर के अवलम्बन से सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालकर चित्तवृत्तिनिरोध करने की जितनी शैलियाँ हैं उनको हठयोग कहते हैं।

लययोग का ढंग कुछ और ही विचित्र है। जीवशरीररूपी पिण्ड और सृष्टिरूपी ब्रह्माण्ड ये दोनों समष्टि-व्यष्टिसम्बन्ध से एक ही हैं। अतः दोनों को एक समझ कर अपने भीतर जो प्रकृतिशक्ति है उसे अपने शरीरस्थ पुरुषभाव में लय करने की जो शैली है और उसके अनुयायी जितने साधन हैं उनको लययोग कहते हैं।

राजयोग का अधिकार सबसे बढ़कर है। मनकी क्रिया मनुष्य को फँसाती है और बुद्धि की क्रिया मनुष्य को मुक्त करने में सहायक होती है। यही कारण है कि अज्ञान से जीव बन्धन को प्राप्त होता है और ज्ञान से मुक्त होता है। अतः बुद्धिक्रियारूपी विचारद्वारा चित्तवृत्तिनिरोध जो शैली है उसको राजयोग कहते हैं।

योग मार्ग के आठ सोपानरूप आठ अङ्गों में से चार बहिरङ्ग और चार अन्तरङ्ग कहाते है। यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चार बहिरङ्ग हैं और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चार अन्तरङ्ग हैं। बहिर् और अन्तरङ्ग को मिलानेवाला प्रत्याहार अङ्ग है। जीव बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय में फँसकर बद्ध रहता है। इस कारण बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय से वीतराग कराने के जो अभ्यास है उनको यथाक्रम यम और नियम कहते हैं। इन दोनों की क्रियाशैली विभिन्न आचार्यों के मतानुसार विभिन्न प्रकार की है। इस प्रकार से यम और नियम के साधनों से उपासना–काण्ड का साधक योगसाधन का अधिकारी बनता है। और तृतीय सोपान में वह अपने शरीर को योगोपयोगी करता है। मीमांसा का यह सिद्धान्त है कि चाञ्चल्य से बन्धन और धैर्य से मुक्ति होती है। अतः शरीर को धैर्ययुक्त करने की जो शैली है उसको आसन कहते हैं। शरीर को धैर्ययुक्त करने के अनन्तर प्राण को धैर्ययुक्त करने की जो शैली है उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम चतुर्थ अङ्ग है। प्राणायाम अङ्ग के साधन के अनन्तर साधक को योग के अन्तरङ्ग साधन का अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि मन और वायु दोनों कारण और कार्यरूप से एक ही है। प्रत्याहार साधन के द्वारा साधक अपनी बहिर्वृत्तिको बहिर्जगत् से हटाकर अन्तर्जगत् में ले जाता है। कूर्म जिस प्रकार अपने अङ्गों को समेट लेता है उसी प्रकार प्रत्याहाररूपी पञ्चम अङ्ग के साधन से उन्नत साधक बहिर्विषय से अपनी विषयवती प्रवृत्ति को अन्तर्राज्य में खींचकर बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् में पहुँच जाता है। यही योग का पञ्चम अङ्ग है। अन्तर्जगत् में पहुँच कर सूक्ष्म अन्तर्राज्य के किसी विभाग का अवलम्बन करके अन्तर्राज्य में ठहरे रहने को ही धारणा कहते हैं। इस प्रकार से षष्ठ अङ्ग रूपी धारणा साधनद्वारा योगी जब अन्तर्राज्य को जय कर लेता है तब बहिः और अन्तर्राज्य के द्रष्टा परमात्मा के सगुण तथा निर्गुण रूप के ध्यान करने की शक्ति योगी को प्राप्त होती है। उस समय ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटी के सिवा और कुछ नहीं रहता है। यही योग का सप्तम अङ्ग है। तत्पश्चात् ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटी का जब विलय हो जाता है और ध्याता ध्यान में मिलकर दोनों ध्येय में लय हो जाते है उसी द्वैतभावरहित वृत्तिनिरोध की अन्तिम अवस्था को समाधि कहते हैं। यही योग का अष्टम अङ्ग है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों क्रियासिद्धान्तों की जो क्रियाशैली पूज्यपाद महर्षियों ने कही है ये सब इन्हीं आठ अङ्गों की सहायता से निर्णीत हुई है। भेद इतना ही है किसी में किसी अङ्ग का विस्तार है और किसी में किसी अङ्ग का सङ्कोच है। इस प्रकार से साधक एक के बाद दूसरा सोपान, दूसरे के बाद तीसरा सोपान इस प्रकार से सोपान अतिक्रम करता हुआ अष्टम सोपानरूपी सविकल्प समाधि में पहुँच जाता है और तदनन्तर निर्विकल्प समाधि में पहुँचकर स्वरूप–उपलब्धि करने में समर्थ हो जाता है। निर्विकल्प समाधि प्राप्त योगी शारीरिक सर्व कर्म करता हुआ भी नहीं करता। तब वह चाहे स्वरूपस्थित रहे, चाहे व्युत्थान दशा को प्राप्त होकर कर्म में प्रवृत्त हो, सब अवस्थाओं में निर्विकल्प

भाव में स्थित रहने के कारण अद्वैतभाव में स्थिर रहता है। इसी दशा को जीवन्मुक्त दशा कहते हैं। इसी को अद्वैतस्थिति, इसी को परज्ञान की दशा और इसी को पराभक्ति की दशा भी कहते हैं। भिन्न-भिन्न विचार के अनुसार ये सब पर्यायवाचक शब्द है। उपासना की प्राणरूपिणी भक्ति और उपासना के शरीररूपी योग का यही अन्तिम लक्ष्य है।

इन शास्त्रीय वचनों का तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है और जिस अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा का एकीकरण होकर स्वरूप की प्राप्ति होती है ऐसे साधन को योग कहते है। इन वचनों से यही सिद्धान्त निकलता है कि चित्तवृत्तियों का जब तक निरोध नहीं होता है तब तक जीव की पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है परन्तु चित्तवृत्ति का जितना-जितना निरोध होता जाता है उतना-उतना ही अज्ञानमूलक जीवत्व का नाश होकर स्वरूप का विकास होता है और चित्तवृत्तिके सम्पूर्णरूप से निरुद्ध हो जाने पर जीव के जीवत्व का कारण नष्ट हो जाता है और तभी स्वरूप का पूर्ण विकास होता हैं। मन्त्रयोग की सिद्धावस्थारूपी महाभाव समाधि में और हठयोग की सिद्धावस्थारूपी महाबोध समाधि में और लययोग की सिद्धावस्थारूपी महालय समाधि में साधक को जो सफलता प्राप्त होती है उन सफलताओं से साधक को चित्तवृत्तिके निरोध करने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। इन तीनों सविकल्प समाधियों की दशा में साधक लौकिक पुरुषार्थ द्वारा चित्तवृत्तियों को दबाकर निरोध करने में समर्थ होता है। इन तीनों सविकल्प समाधियों की दशा में पूर्णरीत्या न चित्तवृत्तियों का विलय होता है और न उनका मूलनाश ही हो सकता है। मन्त्र और इष्टदेव के रूप के एकीकरण द्वारा मन्त्रयोग की महाभाव समाधि काउदय होता है। वायु निरोध द्वारा हठयोग की महाबोध नामक समाधि का उदय होता है और नाद और बिन्दु के एकीकरण से लययोग की महालय नामक समाधि का उदय होता है। ये तीन समाधियाँ लौकिक उपायसम्भूत होने से, हठपूर्वक अनुष्ठित होने से और ज्ञानसम्बन्ध रहित होने से यद्यपि बलपूर्वक चित्तवृत्तिनिरोध करने में समर्थ होती है, तथापि चित्तवृत्ति के मूलोच्छेद में समर्थ नहीं होतीं। अतः इन तीनों समाधिदशाओं में वृत्तियों का पुनरुत्थान होना सम्भव है। साधक इन तीनों में से किसी समाधि को प्राप्त करके जब वह देवदुर्लभ साधन की उन्नत अवस्था को प्राप्त करके राजयोग का अधिकारी बन जाता है। वस्तुतस्तु, मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग जहाँ समाप्त है, राजयोग का श्रेष्ठ अधिकार वहीं से प्रारम्भ होता है।

राजयोग के साधनक्रम की समालोचना करने से यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी सप्त दर्शनोक्त सप्त ज्ञानभूमियों को एक के बाद दूसरी इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ जैसे मनुष्य सोपानद्वारा छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्त ज्ञानभूमियों का रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गों में से प्रथम सप्ताङ्गों का साधनक्रम है। इसके अनन्तर सौभाग्यवान् योगी सत् और चित् भावपूर्ण प्रकृतिपुरुषात्मक दो राज्यों के दर्शन करके उनकी धारणा से अनन्त रूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति सम्पादन करने में समर्थ होता है। यही राजयोग के अष्टम और नवम अङ्ग का साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृति के स्वरूप को सम्पूर्णरूप से परिज्ञात होकर ब्रह्म, ईश और विराट्रूप में अद्वितीय ब्रह्मसत्ता का दर्शन करके ध्यानभूमि की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गों में से

दशम, एकादश और द्वादश अङ्गों का साधनक्रम है। इसके अनन्तर परम [illegible] योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत इन चारों [illegible] (ये चारों समाधि की दशाएँ पूर्वकथित मन्त्र–हठ–लययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय समाधि से विभिन्न हैं) समाधि दशा को अतिक्रमण करते हुए स्वस्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशा को जीवन्मुक्ति दशा कहते हैं। यही सब प्रकार के योगसाधनों का अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासनाराज्य की परिधि है और यही वेदान्त का परम सिद्धान्त है।

■■■

आत्मा कोई सिद्धान्त नहीं है कि तुम शास्त्र में पढ़ो और मान लो। आत्मा एक अनुभव है। अनुभव है चैतन्य की तीव्रता का। इसलिए तुम जितने चैतन्य हो जाओगे, उतना ही तुम्हें आत्मा का पता चलेगा। तुम जितने बेहोश होते चले जाओगे, उतना ही तुम्हें अपना पता नहीं चलेगा। जो आत्मा को जानता है, उसे किसी दर्शन शास्त्र की जरूरत नहीं है, उसे चैतन्य को जगाने की प्रक्रिया करनी चाहिये। उसे विधि चाहिये, जिससे वह ज्यादा चेतन हो जाये। जैसे कि आग को तुम उकसाते हो, राख जम जाती है, तुम उकसा देते हो, राख उड़ जाती है, अंगारे झलकने लगते हैं। ऐसी ही तुम्हें कोई प्रक्रिया चाहिये, जिससे राख तुम्हारी झड़े और अंगारा चमके, क्योंकि उसकी चमक में तुम पहचानोगे कि तुम चैतन्य हो और जितने तुम चैतन्य हो, उतने ही तुम आत्मवान हो। जिस दिन तुम पाओगे कि मैं परम चैतन्य हूँ, उस दिन तुम परमात्मा हो। तुम्हारी चेतना की मात्रा ही तुम्हारी आत्मा की मात्रा होगी। इसीलिए जो भी करो होशपूर्वक करो। उठो तो भी होशपूर्वक, चलो तो भी होशपूर्वक। भगवान महावीर ने कहा है – विवेक से चलो, विवेक से बैठो, विवेक से भोजन करो, विवेक से बोलो, विवेक से सोओ। भगवान महावीर से कोई पूछता है कि साधु कौन? तो भगवान महावीर ने कहा – जो अमूर्छित है। जो सोया–सोया जी रहा है, वह असाधु है। जो जागा–जागा जी रहा है, वह साधु है। चैतन्य आत्मा की झलक तुम्हारे जीवन में आनी निश्चित है।

रोगों से मुक्ति का उपाय–विपश्यना

डॉ. प्रेमनारायण सोमानी

शरीर को स्वस्थ रखने के लिये तो हम शारीरिक व्यायाम करते है, परंतु मनको स्वस्थ रखने के लिये कुछ नही करते। हमारा मन जब प्रदुष्ट होता है तो मनोरोग उत्पन्न होते है। मनको सर्वविध स्वस्थ और मनोविकारों से स्थायी रूप से विरत रखने की कुंजी है–'विपश्यना', जिसकी जड़े तो भारत की है, पर यह विद्या विदेशो मे पल्लवित एवं पुष्पित होती रही है।

'विपश्यना' ध्यान आध्यात्मिक साधना की एक विधि है, जो मनुष्य के आचरण को सुधारकर उसको स्वस्थ जीवन जीने की कला सिखाती है। प्राचीन युग मे ऋषि–मुनियों ने आध्यात्मिक स्वास्थ्य की दृष्टि से जिस सात्विक जीवनपर बल दिया, वह सब कुछ विपश्यना से सहज सुलभ है। नयी पीढ़ी मे कुछ मिथ्या धारणा बन गयी है कि ऐसी आध्यात्मिकता की ओर केवल वे बूढ़े व्यक्ति अग्रसर होते है, जिन्हे समय बिताना कठिन होता है। जवानी मे ये सब बाते निरर्थक लगती है। अभी तो मनोरंजन, कमाई और समाज में स्थापित होने के दिन हैं। मृत्यु परम सत्य होते हुए भी बड़ी दूर दिखायी देती है। कोई मरना नही चाहता, उसके विषय में सोचना भी नही चाहता। उसके विषय मे न सोचने के तरह–तरह के उपाय खोजता है, ताकि उसे भूला रहा जा सके। फिर जब व्याधियाँ–बीमारियाँ शरीर पर दस्तक देने लगती है और सारी चिकित्सा–पद्धतियाँ उसे दूर करने मे नाकामयाब रहती है। मृत्यु साक्षात् सिरपर खड़ी दिखायी देती है, तब जीने की लालसा और बढ़ती है। तब वह रहस्यमयी आध्यात्मिक शक्तियो और क्रियाओं की खोज करता है। शायद उससे कोई राहत मिले–दवाइयों से छुटकारा मिले।

प्रश्न उठता है कि आध्यात्मिक साधना क्या रोगों को ठीक करने मे मदद करती है? प्राकृतिक चिकित्सा की मान्यता है कि ईर्ष्या–द्वेष के बाहुल्य से तनाव बढ़ता है और मनुष्य मे बुढ़ापे के लक्षण कम उम्र मे ही आ जाते है। क्रोध तनाव का कारण है और कुण्ठा का सम्बन्ध 'हार्ट–अटैक' एवं ब्लडप्रेशर या पेप्टिक अल्सर (गैस्ट्रिक)– जैसी बीमारियों से है। ब्लडप्रेशर कालान्तर मे फालिज का कारण बनता है। भय एवं क्रोध पाचन–क्रिया को खराब करते हैं और संग्रहणी के जनक हैं। अशान्ति और व्याकुलता मधुमेह को बढ़ाती है और उसकी कारण भी हो सकते है। तनाव, बेचैनी, अशान्ति, भय, उदासी और अनिद्रा तो सर्वमान्य मन के रोग हैं ही तथा इन्हे दूर करने के लिये मनुष्य नशे का सहारा लेने लगता है एवं उसे उससे भी बड़ा रोग नशे का लग जाता है। नशे की लत चाहे पान मे जरदे की हो, चाहे पान–मसाले, गुटका, खैनी या अफीम के सेवन की हो सब तलब पर निर्भर है और तलब शरीर मे होने वाली संवेदनापर निर्भर करती है। नयी पीढ़ी में अब पेथेडीन, हिरोइन, मेंड्रेक्स, कोकीन आदि नशे की लत पड़ती जा रही है। किसी–किसी का तो इनके बगैर जीना दूभर होता दिखायी देता है। तलब हुई कि नशे की ओर बढ़े और डूबते ही गये। इतनी भिन्न दिखने वाली सारी बीमारियो की जड़ मन के विकार है, जिन्हे

निर्मूल करने में कोई आध्यात्मिक साधना ही मदद कर सकती है। 'विपश्यना' साधना से हम विकार से विमुक्त हो सकते हैं और अन्ततः रोगमुक्त भी। यही इसका वैज्ञानिक पहलू है। आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्सा–पद्धति का भी मानना है कि मानसिक विकारों–जिन में तनाव, दब्बू व्यक्तित्व, दूसरे पर निर्भरता, हीनता की भावना, अहंकार, क्षमता से अधिक महत्वाकांक्षा, ईर्ष्या आदि प्रमुख हैं– से अनेक रोग हो सकते हैं, जिन्हें मनोजन्य शारीरिक (साइकोसोमैटिक) रोग कहा जाता है। इसमें प्रमुख हैं–

1– उदर–रोग– गैस, पेट में जलन, अलसर आदि।

2– फेफड़े के रोग– दमा।

3– हृदय–रोग– रक्तचाप, हार्ट–अटैक, एन्जाइना।

4– मस्तिष्क–रोग– सिरदर्द, अर्धपारी, शरीर में जगह–जगह दर्द।

5– चर्म–रोग– एक्जिमा, न्यूरोडरमेटाइटिस, सोराइसिस आदि।

मन के विकार ही इन रोगों के कारण हैं एवं वे ही इनका संवर्धन करते हैं। जब–जब इन रोगियों के मन शान्त एवं विकाररहित होते हैं, तो यह रोग घटने लगते हैं। मानसिक रोग जैसे–तनाव, उदासी, चिन्ता, अवसाद, अनिद्रा, हिस्टीरिया आदि तो मन के विकारों से उत्पन्न होने वाले रोग ही हैं।

'विपश्यना' इन भिन्न दिखनेवाले रोगों को मन में निर्मलता लाकर ठीक करती है। 'विपश्यना' में पहले साँस और मन एकाग्र करना बताया जाता है। हम जानते हैं कि मन और साँस का गहरा सम्बन्ध है। भय, क्रोध आदि विकार जागने पर साँस तेज चलने लगती है और इनके समाप्त होने पर फिर अपनी सरल, साधारण धीमी गतिपर वापस आ जाती है। साँस में जब मन केन्द्रित हो जाता है तो उसी क्षण मन विकाररहित होता है। शनैः–शनैः विकार–विहीन रहने का समय बढ़ता जाता है और इसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है। देखा गया है कि हार्ट–अटैक के रोगी यदि साँस पर ध्यान केन्द्रित करें तो उनकी धमनियों में जमी चर्बी कम होने लगती है और अवरोध धीरे–धीरे समाप्त होने लगता है। कम दवाओं पर ही या बगैर ऑपरेशन कराये ऐसा रोगी बिना किसी तकलीफ के रह सकता है। डॉक्टर डीन आर्निशने जो आजकल अमेरिकी राष्ट्रपति के चिकित्सक हैं, इस पर काफी सफल आजमाइश की है और आज सारे संसार में उनके नाम से हृदय रोग का प्रोग्राम चल रहा है। साँस को देखने को (आनापानसति) उपचार से जोड़ने से उन्हें इतनी ख्याति मिली कि सारे संसार में आज हार्ट–अटैक की चिकित्सा में 'डीन आर्निश प्रोग्राम' की चर्चा है।

साँस में एकाग्रता हमारे बाह्यचित को शुद्ध करती है। इसके बावजूद विकारों की जड़ें नहीं निकल पातीं। इनकी जड़ें हमारे अन्तश्चित में हैं जो शरीर में होने वाली रासायनिक, विद्युतीय एवं चुम्बकीय क्रियाओं को बराबर जानती रहती है और अंधी प्रतिक्रिया करती है। समय और परिस्थितियाँ आने पर विकार फिर सिर उठाने लगते हैं। यही हमारा स्वभाव होता है। यह अंधी प्रतिक्रिया ही हमारे सारे विकारों की जड़ है। हम शरीर पर होने वाली इन भिन्न जैव रासायनिक क्रियाओं को संवेदना के माध्यम से जानते हैं। संवेदना सदैव होती रहती है। जब भी चित्त एकाग्र

होकर शरीर के किसी भाग से सम्पर्क करता है— अनुभव करता है तो संवेदनाएँ महसूस होने लगती है। यदि हम संवेदनाओं के प्रति सजग नहीं है तो अंधेरे में ही है। सुखद संवेदना हो तो उसे कायम रखने अथवा बढ़ाने की प्रतिक्रिया और यदि दु:खद संवेदना हो तो उसे तुरंत दूर करने की प्रतिक्रिया और यदि असुखद–अदु:खद संवेदना हो तो उससे ऊबकर उसे दूर करने के लिये द्वेष की और किसी सुखद संवेदना को प्राप्त करने के लिये राग की प्रतिक्रिया करते है। जब हम यह प्रज्ञा (बुद्धि)– पूर्वक जानने लगें, तो भोक्ता–भाव अपने–आप चला जायेगा। यह देखा गया है कि जब साक्षी–भाव आ रहा है तो शरीर की कोशिकाओं में, आसवों में भी परिवर्तन होता है। इसी प्रक्रिया से विकारों की जड़ें निकलने लगती है और हमें मनोजन्य शारीरिक एवं मानसिक रोगों से छुटकारा मिलने लगता है। नशे के शिकार व्यक्तियों में देखा गया है कि वे नशे का सेवन इसलिये करते है कि शरीर में एक प्रकार की संवेदना की चाह होती है। यही 'तलब' या आवश्यकता कहलाती है। यह तलब नशे के प्रभाव से शरीर की कोशिकाओं में पैदा हुए द्रव्य रसायन से होती है, जो संवेदना के रूप में शरीर पर प्रकट होती है। यदि 'तलब' को साक्षी–भाव से देखें और कोई प्रतिक्रिया न करें तो नशे की आदत ही छूट जाती है। 'विपश्यना' का प्रयोग पश्चिमी आस्ट्रेलिया में क्रेयन हाउस में नशे से छुटकारे के लिये बड़ी सफलतापूर्वक किया जा रहा है। इसके सारे सलाहकार वे भूतपूर्व नशे की आदतवाले है जो विपश्यना द्वारा नशे की आदत छोड़ चुके है और अब ये नशा करनेवालों के सम्मुख स्वयं आदर्श प्रस्तुत करते हुए उनकी आदत छुड़ाने में उनकी मदद करते हैं।

'विपश्यना' द्वारा मन निर्मल और शान्त होता है तो मन में सकारात्मक प्रतिक्रिया ही जागती है और ये प्रवृत्तियाँ असाध्य रोगों के प्रति साक्षी–भाव जगाती है, जिससे रोगों से होने वाली पीड़ा कम होती है। रोगों को बर्दाश्त करने की क्षमता बढ़ती है और चेहरे पर शान्ति एवं मुस्कुराहट ही रहती है। रोगों पर विजय तो इस साधना का ब्याज ही है, असल तो भव–चक्र से मुक्ति है। हम जिस किसी भी मानसिकता से इसकी ओर बढ़ें, लाभ–ही–लाभ है।

■■■

केवल शरीर के बल पर जीने वाला मनुष्य केन्द्रीय चेतन सत्ता (आत्मा) से बहुत दूर भटक जाता है। आत्मा प्रकाश है, ज्ञान है तथा विवेक दृष्टि खोलने का साधन है। अपनी आत्मा का आश्रय लेकर ही अपना उद्धार करो तथा आत्मा को अवसादमयी स्थिति में मत डालो, उसके संकेतों को मत नकारो। आत्मा ही आपका मित्र, सहयोगी एवं हितैषी है।

गुर्वष्टकम्

श्रीसद्गुरवे नमः

शरीरं सुरूपं तथा वा कलत्रं यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।1।।
कलत्रं धनं पुत्रपौत्रादि सर्वं गृहं बान्धवाः सर्वमेतद्धि जातम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।2।।
षडङ्गादिवेदो मुखे शास्त्रविद्या कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।3।।
विदेशेषु मान्यः स्वदेशेषु धन्यः सदाचारवृत्तेषु मत्तो न चान्यः।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।4।।
क्षमामण्डले भूप भूपालवृन्दैः सदा सेवितं यस्य पादारविन्दम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।5।।
यशो मे गतं दिक्षु दानप्रतापाज्जगद्वस्तु सर्वं करे मत्प्रसादात्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।6।।
न भोगे न योगे न वा वाजिराजौ न कान्तामुखे नैव वित्तेषु चित्तम्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।7।।
अरण्ये न वा स्वस्य गेहे न कार्ये न देहे मनो वर्तते मे त्वनर्घ्ये।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।8।।
अनर्घ्याणि रत्नानि भुक्तानि सम्यक् समालिङ्गिता कामिनी यामिनीषु।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।9।।
गुरोरष्टकं यः पठेत् पुण्यदेही यतिर्भूपतिर्ब्रह्मचारी च गेही।
लभेद्वाञ्छितार्थं पदं ब्रह्मसंज्ञं गुरोरुक्तवाक्ये मनो यस्य लग्नम् ।।10।।

।।इति श्रीमच्छंकराचार्यकृतं गुर्वष्टकं सम्पूर्णम्।।

श्रीसद्गुरु को नमस्कार है। आचार्य शंकर कहते हैं कि यदि शरीर सुन्दर, स्त्री भी सुन्दरी, अद्भुत विशद यश और सुमेरुपर्वत के समान विपुल धन प्राप्त है, पर मन श्री सद्गुरु के चरणकमल में नहीं लगा तो उससे क्या लाभ? जिसे स्त्री, धन, पुत्र-पौत्र आदि सारा कुटुम्ब, गृह, बान्धव – ये सब भले ही प्राप्त हो गये, जिसके मुख में छहों अङ्गोंसहित वेद तथा छहों शास्त्रों की विद्या विद्यमान है और जो सुन्दर गद्य-पद्यमयी कविता भी करता है, जिसका विदेशों में भारी सम्मान है, स्वदेश में भी जो धन्य माना जाता है तथा जिसके समान दूसरा कोई सदाचारी भक्त नहीं है, भूमण्डल के सभी राजसमूहों द्वारा जिसका चरणकमल सदा सेवित है, दान के प्रताप से दिशाओं में यश व्याप्त है, सारी वस्तुएँ करतलगत हैं, जिसका न भोग में लगता है न योग में, न धन में आसक्त होता है, उसका मन यदि श्री सद्गुरु के चरणों में नहीं लगा तो उससे क्या लाभ? यद्यपि मेरा मन न वन में, न अपने घर में, न कार्य में और न बहुमूल्य शरीर में ही लगता है, फिर भी यदि वह श्रीसद्गुरु के चरणकमल में न लगा तो उससे क्या लाभ? जिसका मन गुरु के कथनानुसार वाक्य में लगा हुआ है, ऐसा जो पवित्रात्मा संन्यासी, राजा, ब्रह्मचारी और गृहस्थ इस गुर्वष्टक स्तोत्र का पाठ करेगा, उसे अभीप्सित ब्रह्मात्मक पद की प्राप्ति होगी।

मीडिया पोस्ट

हृदय स्पर्शी सेवा

उत्पाद (ब्राण्ड) को बाजार में स्थापित करने के लिए एक अनोखी एवं प्रभावशाली योजना -

निम्न माध्यमों से विज्ञापन की सुविधा

1. [illegible]
2. [illegible]
3. [illegible] रु. 1000 [illegible]
4. [illegible]
5. [illegible] 100/- [illegible]
6. [illegible] 100/- [illegible]
7. [illegible]

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag. 19/06-08

JULY 2007

प्रेषक कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उत्कृष्ट हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER

BOOK-POST

श्री/सुश्री

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. पारसलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14565.

सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) पारसलाल शर्मा